आक्षेपक - निग्रहाचार्य को खण्डन के स्थान पर मण्डन में ध्यान देना चाहिए। खण्डन करना ही हो तो अभद्रशैली का प्रयोग न करें। निग्रहाचार्य को सन्तों की निन्दा शोभा नहीं देती है। विद्या ददाति विनयम्। विद्या से विनय आता है।

निग्रहाचार्य - आक्षेपकर्ता को खण्डन, मण्डन, निग्रह आदि शब्दों की परिभाषा का ज्ञान ही नहीं है। किसी का निराकरण खण्डन है, उसे सज्जित करके प्रस्तुत करना मण्डन है और उसका नियन्त्रण करना निग्रह है। शास्त्र के सन्दर्भ में अज्ञानता, मोह अथवा लोभवश उत्पन्न किए गए भ्रम का निराकरण करना ही खण्डन कहलाता है। शास्त्रविषयक सिद्धान्त को युक्ति, तर्क एवं प्रमाण से सज्जित करके प्रस्तुत करना मण्डन कहलाता है।

यदि कोई चिकित्सक को कहे कि आप मात्र चिकित्सा करें, रोग का निवारण न करें तो यह अव्यावहारिक बात है। चिकित्सा का प्रथम चरण ही रोग के निराकरण से प्रारम्भ होता है। दूसरे चरण में रोगी के आरोग्यता की वृद्धि करने का कर्म निहित है। बिना रोग का निराकरण किए आरोग्यता की वृद्धि नहीं होती है। इसी प्रकार पूर्वपक्ष के खण्डन के बिना उत्तरपक्ष का सिद्धान्तमण्डन नहीं होता है। सन्तानोत्पत्ति में गर्भाधान प्रथम और प्रसव अन्तिम है। प्रक्रियासूत्र में प्रथम खण्डन एवं तदुपरान्त मण्डन का स्थान है।

भगवान् गौतम कहते हैं - विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्। सिद्धान्त को सर्वथा न समझने अथवा यथार्थ से भिन्न समझने से विपक्षी में जो भ्रम उत्पन्न होता है, उसी के आश्रय से उसका पराभव निग्रहलक्षण से किया जाता है। तन्त्रमत में सर्वं प्रलये निगृह्णाति निग्रहः कहते हैं। जो सबों को प्रलय में ले जाए, समाप्त कर दे, वह निग्रह है। अन्य कोशग्रन्थों में कृपा का अभाव, बन्धन और भर्त्सना की निग्रहसंज्ञा है, ऐसा भी कहते हैं।

अतः मैं शास्त्रसिद्धान्त के विरुद्ध जाने वाले अपने प्रतिपक्षी के प्रति कृपा का अभाव रखते हुए, शास्त्रवाक्यों से उसका बन्धन करते हुए, उसके शास्त्रनिन्दक कुतर्कों की भर्त्सना करते हुए, शास्त्रवाक्य को न समझने अथवा विपरीत समझने की उसकी हीनता को शस्त्र बनाकर उनका निग्रह करता हूँ, फलतः मेरी निग्रहाचार्य उपाधि लक्षणतः भी सार्थक है।

आपके गृह में कोई चोर घुस आए तो आप क्या करते हैं ? कोई आपके परिवार के सम्मान को नष्ट करता हुआ दुर्व्यवहार करे तो आप क्या करते हैं ? उससे सर्वथा हाथ जोड़कर विनम्रतापूर्वक निवेदन करते हैं अथवा सामर्थ्य की सीमा में कठोर प्रतिकार करते हैं ? शास्त्रवाक्य के प्रति आघात करने वालों के प्रति मैं क्यों विनम्र रहूँ ?

शास्त्रों का, उनके उपदेष्टा आचार्यों का, तदभिमानी देवशक्तियों का मैं ऋणी हूँ अतः उनके सम्मान की रक्षा हेतु सङ्घर्ष करता हूँ। मैं किसी शास्त्रनिन्दक व्यक्ति का ऋणी नहीं हूँ कि उसके प्रति विनम्रता और कृतज्ञता व्यक्त करूँ। किसी शास्त्रनिन्दक व्यक्ति ने मुझे जन्म नहीं दिया है, मेरा भौतिक या बौद्धिक पोषण नहीं किया है। मैं शास्त्रों, शास्त्रज्ञ आचार्यों और शास्त्रसिद्ध देवों का ऋणी हूँ एवं उनके सम्मान हेतु ही लिखता हूँ।

मैं अपने खण्डन में कोई लोकनिन्दित अपशब्द नहीं लिखता। मेरी खण्डन शैली में आक्रामकता है, अभद्रता नहीं। निग्रहाचार्य हों या कोई भी मान्य सत्सम्प्रदायवित् आचार्य हों, कभी भी 'सन्त' का निरादर नहीं करते हैं। मत्स्यपुराण और ब्रह्माण्डपुराण आदि में कहा गया है कि वेदों के मन्त्र, शब्दब्रह्म शास्त्रादि ईश्वर के व्यक्तविग्रह हैं। ये शास्त्र सरहस्य जिसके हृदय में निरन्तर निवास करें, वह सन्त है।

जो शास्त्रीय रहस्य को यथार्थतः अपने हृदय में धारण करते हैं, निग्रहाचार्य मात्र उन्हें ही सन्त मानते हैं और उनका ही सम्मान करते हैं, अन्य वेशधारियों को नहीं। निग्रह शब्द का अर्थ ही संहार, बन्धन, भर्त्सना आदि है। निग्रहाचार्य से लोग और क्या आशा करते हैं ? मेरी उपाधि अनुग्रहाचार्य होती तो इसपर विचार किया जा सकता था किन्तु मेरा कार्य ही शास्त्रवाक्य के आधार पर अशास्त्रीयता का संहार एवं भर्त्सना करना है।

'विद्या ददाति विनयम्' का अर्थ यह नहीं है कि हम शास्त्रवाक्य की अवहेलना करने वाले धूर्तों के सामने शरणागत हो जाएं। जो शास्त्रगम्य सिद्धान्तों के पोषक आचार्यजन हैं, उनके समक्ष मैं सदैव विनम्र रहता हूँ। श्रीहनुमान् जी तो ज्ञानिनामग्रगण्य हैं, उनमें कितनी विनम्रता होती होगी ? किन्तु इस आधार पर यदि कालनेमि कहे कि मेरे समक्ष भी विनम्रता दिखाओ तो यह सम्भव नहीं है।

लोग कहते हैं कि मुझे खण्डन नहीं लिखना चाहिए, अथवा यह भी कि मैं सबों में दोष देखता हूँ। मैं कहता हूँ कि मैं सबों में दोष नहीं देखता, जिनमें स्पष्ट शास्त्रविरुद्ध कुछ दिखे, वहाँ स्वतः दोष दिख जाता है। एक सड़ते हुए शव से निकलने वाला

दुर्गन्ध कुत्ते, सियार, गिद्ध आदि को ज्ञात नहीं होता किन्तु मनुष्यों को स्वतः ज्ञात हो जाता है। ऐसे ही शास्त्रविरुद्ध सिद्धान्त का दोष शास्त्रज्ञों को स्वतः दिख जाता है किन्तु अशास्त्रज्ञों को नहीं। एक आरक्षी को दस्यु स्वतः दिख जाते हैं और वह उनका प्रतिकार भी करता है। जनसामान्य यदि यह कहे कि तुम सबों को चोर ही समझते हो, तो यह उचित नहीं क्योंकि आरक्षी का कार्य ही चोर को पकड़ना है और इसके लिए उसे दोषदृष्टि का आश्रय लेना ही पड़ेगा।

धर्म एवं अधर्म के मध्य, दैवी एवं आसुरी चमत्कारों के मध्य बहुत सूक्ष्म भेद है। बाह्यदृष्टि से इसमें भेद समझना कठिन है। मैं आपको अपना लेख पढ़ने हेतु आमन्त्रित भी नहीं करता, प्रतिबन्धित भी नहीं करता। मैं अपने लिए खण्डन नहीं लिखता, आपके लिए भी नहीं लिखता। मैं अपनी और अपने अनुयायियों की आने वाली पीढ़ी की बौद्धिक सुरक्षा के निमित्त खण्डन लिखता हूँ। जो भ्रम, अज्ञान और कुतर्क आज अन्यजन अपने वाग्वैशिष्ट्य या प्रभुत्व के कारण प्रसारित कर रहे हैं, वह भ्रम एवं अज्ञान कल हमारे भी घर को सङ्क्रमित न कर दे, इस हेतु मैं खण्डन लिखता हूँ। परिश्रमपूर्वक सेवातत्पर एवं स्वकर्मपरायण होकर जिस व्यक्ति ने शास्त्राध्ययनानुपालन किया हो, वही उनके संरक्षण एवं सदर्थप्रकाशन की गुरुता को समझ सकता है।

लोग कहते हैं कि मेरे खण्डन से हिन्दुओं में विखण्डन होगा। मैं कहता हूँ कि भ्रम के आधार पर असत्य एवं अश्रद्धा उत्पन्न करने वालों को आप क्यों नहीं कहते हैं कि भ्रम उत्पन्न करने हिन्दुओं में विखण्डन मत करो ? सत्य और धर्मशास्त्रतः वक्तव्य देने से विखण्डन हो सकता है तथा मनमाना आचरण और धर्मशास्त्रों की निन्दा करने से एकता आती है, यदि इसी विचारधारा ने हिन्दुओं को ग्रस्त कर लिया है तो एक दो पीढ़ी के बाद ये सभी स्वतः पूर्ण म्लेच्छ हो जाएंगे, इसमें कोई संशय नहीं है। वास्तविक सनातनी वही बचेगा जो अपने पूर्वाचार्यों एवं धर्मशास्त्रों के प्रति, उनके सदर्थपोषक धर्माधिकारियों के प्रति असन्दिग्ध आस्था में दृढ़ रहे।

भारत को तोड़कर जितने देश अलग किए गए हैं, उन सबों में राजनैतिक या आर्थिक अस्थिरता दीर्घकालिक रही है। भविष्य में भारत का कोई और भाग तोड़ा गया तो उसका भी यही हाल होगा। भारत से स्वयं को भिन्न समझने से भारतभूमि की सनातन भावना का अभाव हो जाता है और सर्वविध अस्थिरता वहीं से प्रारम्भ होती है। जैसे प्राणयुक्त शरीर से हाथ, पैर, कान आदि अङ्ग जुड़े रहने पर ही सक्रिय एवं स्वस्थ रहते हैं, अलग कर दिए जाने पर सड़ने लगते हैं, वैसे ही सनातनप्राणित भारत के भूखण्डाङ्ग भी भारत से भिन्न होकर विकृत होने लगते हैं।

लोग मुझे कहते हैं कि महाराज ! आप विवादों से दूर रहिए। मेरे घर वाले भी कहते हैं कि विवादों में मत पड़ो। भाई, मैं विवादों में नहीं जाता। विवाद मेरे पास आते हैं। बताईये, क्या मैंने अमुक वक्ता को बोला कि ग्रन्थों को मिलावटी कहो ? क्या मैंने अमुक वक्ता को बोला कि मञ्च से अली मौला करो ? क्या मैंने अमुक वक्ता को बोला कि मञ्च से देवताओं को अपशब्द कहो ? नहीं न। पहले सामने के पक्ष ने विवाद किया, जो मुझतक पहुंचा। मैं अपने से मुंह उठाकर तो नहीं चला जाता नया विवाद उत्पन्न करने। अब लोग (और मेरे घरवाले भी) कहते हैं कि कोई कुछ करे, आप बीच में क्यों पड़ते हैं, आप अपना काम कीजिये। भाई, मैं अपना काम ही कर रहा हूँ। एक धर्माधिकारी के रूप में मेरा काम ही धर्म और उसके सिद्धान्त की यथार्थतः रक्षा करना है।

मैं कहता हूँ कि यदि आप चाहते हैं कि मैं बीच में न पड़ूँ तो मुझे ब्राह्मण कुल में जन्म मिला ही क्यों ? जन्म हो भी गया तो शास्त्रज्ञान नहीं देना था, धर्मगुरु के रूप में प्रतिष्ठित होना ही नहीं था। आराम से कहीं म्लेच्छवत् जीवन जीता हुआ नौ से पांच की नौकरी करता और ये सब विवादों में पड़ता ही नहीं। किन्तु आपने मुझे धर्मगुरु बनाया, शास्त्रज्ञान दिया और अब कहते हैं कि विवाद मत करो। कभी मैंने सामने से स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने हेतु पूर्वपक्ष उठाकर विवाद नहीं किया है। सदैव पहले सामने वाले ने कुछ असङ्गत बात की है, जिसके विरुद्ध मैंने शास्त्रीय प्रमाणों से युक्त खण्डन आदि किया है अथवा किसी ने प्रश्न किया है तो उसके उत्तर में लेख लिखा है। यही मेरा कार्य है, यही मेरी मौलिकता है।

दो शब्द

अखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानस्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षणानन्तज्ञानानन्दैकस्वरूप-अखिलब्रह्माण्डाधिनायक श्रीमन्नारायण भगवान् की करुणामयी कृपा का ही परिणाम यह मानव शरीर है ।इस प्रकार अनेकों वर्णसम्प्रदायादि के रूप में विभक्त समस्त प्राणियों का परम धर्म अथवा कर्तव्य है - जड़चेतनात्मक रूप में स्थित प्राणियों का कल्याण करना।

धर्मो नामप्राणिरक्षणोपायिकतया क्रियमाणा वृत्तिविशेषा।

कर्तव्याकर्तव्य का विचार करते हुए वेद भगवान् जिन कर्तव्य कर्मों का प्रतिपादन करते हैं वास्तव में वही धर्म है, ठीक इसके विपरीत अधर्म जानना चाहिए।

"वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः"।

इस प्रकार जनमानस के हितार्थ भगवान् ने सर्वप्रथम निःश्वासात्मक वेदों को प्रकट किया इसलिए वेद साक्षात् नारायणस्वरूप हैं।

"वेदो नारायणः साक्षात्"

सर्वप्रथम वेद भगवान् ही कृपा करने के लिए महर्षि वाल्मीकि जी को निमित्त बनाकर श्रीमद्रामायण के रूप में प्रकट हुए। मैं तो कहा करता हूँ कि जिस प्रकार मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में राघवेन्द्र श्रीरामजी का अवतरण हुआ, उसी प्रकार से साक्षात् वेद भगवान् ही श्रीमद्रामायण के रूप में अवतीर्ण हुए।

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षात् रामायणात्मना॥

बालकाण्ड से लेकर उत्तरकाण्ड पर्यन्त सप्तकाण्डों में श्रीरामायण के रूप में वेद भगवान् का अवतरण हुआ इसलिए श्रीरामायणान्तर्गतागत सभी चरित्र परम पवित्र एवं सत्य हैं। जब हमारे कर्म सन्तशास्त्रानुमोदित होंगे तभी श्रीरामायण जी के सभी चरित्र सत्य प्रतीत होंगे। केवल वाक्प्रतिभा का प्रयोग करके अर्थ को बदल देना विद्वत्ता नहीं है। विद्वत्ता का परिचय तब जाना जाता है जब श्रुतिसिद्धान्तानुसार हो। विविध व्याकरण, साहित्य इत्यादि शास्त्रों का अध्ययन केवल अनर्गल प्रलाप करने एवं मनमाना अर्थ करने के लिए नहीं है।

श्रीरामभद्राचार्य की व्याकरण वाक्यरचनाशैली निःसन्देह सराहनीय है, परंतु वे व्याकरण सिद्धान्त के अनुसार शब्दों का, व्युत्पत्ति शैली से मनमाना और अनुचित अर्थ करने के लिये बाध्य हैं जो समाज को भ्रमित करने वाला है, साथ ही साथ स्वयं की पतनशीलता का कारण भी बन सकता है।

इस प्रकार श्रीरामभद्राचार्य की व्याख्या एवं कथन मूल ग्रन्थ से हटकर है जो सिद्धान्तपरक न होकर केवल प्रतिभा का प्रदर्शनमात्र है। श्रीरामभद्राचार्य जी श्रीसीताजी का पुनर्वनवास नहीं मानते। यह उनका असफल प्रयास है। निष्कर्ष तो यह है कि यदि श्रीसीताजी का पुनर्वनवास नहीं होता तो इस संसार में श्रीरामकथा का प्राकट्य नहीं होता और राम कथा के अभाव में उत्तम चरित्र एवं सभ्यता का सर्वथा अभाव हो जाता। सभी रावण और कुम्भकर्ण बन जाते। इसी कारण से घर घर में रामराज्य की स्थापना हो, सभी का जीवन राममय बन जाए और असन्दिग्ध रूप से रामत्व की स्थापना एवं रावणत्व का सर्वथा विनाश हो, इस हेतु श्रीसीताजी का पुनर्वनवास हुआ। निम्नलिखित तथ्यों का अवलोकन करें -

१) श्रीनारदजी श्रीरामजी के मन हैं तभी तो श्रीरामजी की प्रेरणा से ही श्रीनारदजी ने महर्षि वाल्मीकि जी को सम्पूर्ण राम कथा सुनायी।

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।

२) श्रीब्रह्माजी श्रीरामजी के कर्म हैं, अतः श्रीब्रह्माजी ने कर्म के रूप में आकर श्रीरामकथा लिखने का आदेश दिया।

वृत्तं कथय धीरस्य यथा ते नारदाच्छ्रुतम्।
अथवा
तच्चाप्यविदितं सर्वं विदितं ते भविष्यति।

३) भगवान् श्रीराम की वाणी ही देवी सरस्वती हैं जो "मा निषाद" के रूप में महर्षि वाल्मीकिजी के मुख से प्रकट हुई।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शास्वती समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

४) श्रीरामजी की करुणा ही श्रीसीताजी हैं जो महर्षि वाल्मीकिजी के हृदयस्थल पर विराजमान होकर करुणामयी दृष्टि से करुणा की वर्षा करती हुई करुणामयी श्रीरामकथा निर्माण करने का सामर्थ्य प्रदान की।

इस प्रकार मन के रूप में श्रीनारदजी का, कर्म के रूप में श्रीब्रह्माजी का, देवी सरस्वती के रूप में 'मा निषाद' की प्रवृत्ति एवं करुणा के रूप में श्रीसीताजी का आना, यह काल्पनिक नहीं ध्रुव सत्य है।

आचार्यस्वरूपा करुणामयी श्रीसीताजी ही श्रीरामकथा की आचार्या हैं जो महर्षि वाल्मीकि को माध्यम बनाकर श्रीरामकथा का निर्माण करती हैं। अतः श्रीसीताजी का पुनर्वनवास लोकहितकारी है। किसी प्रक्षिप्तवादी द्वारा यह कह देना कि श्रीसीताजी का वनवास नहीं हुआ था, यह केवल जड़ता का बोधक है। प्रक्षिप्तवादी बुद्धि का प्रयोग करने वाले तथा लौकिक प्रतिष्ठा जैसी तुच्छ विचारधारा से सङ्क्रमित विचारों का मैं आदर नहीं करता हूँ।

साकेताधीश श्रीमद्राघवेन्द्र सरकार से मेरी यही प्रार्थना है कि प्रक्षिप्तवादियों की बुद्धि शुद्ध हो और हमारे परम शुभेच्छु एवं सुहृत् सन्तशिरोमणि विद्वद्वरेण्य सत्सम्प्रदायनिष्ठ भगवद्भागवताचार्यकैङ्कर्यनिष्ठ एवं तप:स्वाध्यायनिरत स्वनामधन्य स्वामी श्रीभागवतानंद गुरु (श्रीनिग्रहाचार्य) जी द्वारा भ्रम भञ्जनार्थ उत्कृष्ट साधन-साध्य के रूप में प्रस्तुत अद्वितीय ग्रन्थ "मूरख हृदय न चेत" विधर्मियों के भ्रम एवं कुतर्कों का भञ्जन करता हुआ जनमानस में विराजमान हो तथा श्रीलक्ष्मीनारायण से पुनः प्रार्थना करता हूँ कि प्रभु की कृपा से स्वामिश्री निग्रहाचार्य की अजस्रवाहिनी भगवती गङ्गा की अमलधवलधारा के समान पवित्र लेखनी कुतर्कियों के कुतर्कों का सदा-सर्वदा-सर्वकाल-आकल्पान्त खण्डन करती रहे।

प्रश्नकर्ता - श्री करपात्री स्वामी जी ने अपने वैदिक ग्रन्थों में पृथ्वी को अचला माना है। क्या यह अनुचित नहीं है ?

श्रीभागवतानंद गुरु - बैल को उतना ही गीत सुनाना चाहिए जितने में वह सींघ न मारे। करपात्री स्वामी जी क्या कर रहे हैं ? वेद का अर्थ बता रहे हैं। वेद क्या हैं ? शब्दब्रह्म , अपौरुषेय। उन्हें लिखा या बनाया नहीं गया। वे नित्य हैं , काल और देश से अतीत हैं , उन्हें बस विशेषज्ञों ऋषियों के द्वारा जाना गया और संसार में बताया गया। बायोलॉजी के सेल को माइक्रोस्कोप के बिना नहीं देख सकते, फोन और जेल की सेल को देख सकते हैं। आप भूमि, पृथ्वी, भूगोल आदि शब्द का अर्थ लगाते हैं तो अपने प्रसङ्ग के अनुसार लगाते हैं। जब कुँवा खोदना हो, धरती खिसकी या हिली तो भूखनन, भूस्खलन, भूकंप का अर्थ केवल छोटे से भाग से लगाया जाता है। जब बात का स्तर बड़ा हो तो परिभाषा और परिभाषेय भी बड़े हो जाते हैं। ग्लोबल वार्मिंग की बात के समय भूमि, पृथ्वी का अर्थ समुद्र, पर्वत और जमीन से युक्त भूमि से होता है। पर्वतारोहण के समय , नौचालन के समय भूमि का अर्थ पर्वत और समुद्र से रहित भूभाग से होता है। ऐसे ही जब ब्रह्माण्ड के स्तर पर बात करेंगे तो परिभाषा और परिभाषेय भी बड़े हो जाएंगे। वेद में पृथ्वी की परिभाषा और भी बड़ी है तो वहाँ वह स्थिर है, वहाँ उसकी देवता संज्ञा है -

पृथ्वी देवी दृढा सौम्या शुभा स्याद्वेददैवते। (विष्णुधर्मोत्तरपुराण)

राजनिघण्टु के धरण्यादिवर्ग में पृथ्वी के नामों में एक नाम निश्चला भी है -

क्षौणी सर्वसहानन्ता भूतमाता च निश्चला।
भूमी बीजप्रसूः श्यामा क्रोडकान्ता च कीर्तिता॥

पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में भूगोल का विस्तार पचास करोड़ योजन का बताया गया है -

पूर्वं ततस्तु भूगोलं पञ्चाशत्कोटियोजनम्।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के श्रीकृष्णजन्मखण्ड में इसी भूगोल की परिक्रमा करते हुए सूर्य तपाते हैं, ऐसा बताया गया है -

तपति भ्रमणं कृत्वा भूगोलं सुप्रभाकरः।

श्रीमद्भागवत में भी इसीलिए कहा गया कि सूर्य - चन्द्र - नक्षत्रों की ज्योति जहां तक जाए वहाँ तक भूमण्डल है -

भूमण्डलायामविशेषो यावदादित्यस्तपति यत्र चासौ ज्योतिषां गणैश्चन्द्रमा वा सह दृश्यते।

और उसका परिमाण भी पचास करोड़ योजन बताया -

पञ्चाशत्कोटिगणितस्य भूगोलस्य। एक योजन में चार क्रोश होते हैं।

एक क्रोश में लगभग दो मील होते हैं, एक मील में लगभग 1.62 किमी होते हैं। तो पचास करोड़ के भूमण्डल का हिसाब लगा लीजिये। यह भूगोलपरिमाण केवल हमलोगों के हिसाब से ही नहीं चलता। यहां मेढ़क भी रहते हैं, जो इसका विस्तार अपनी क्षमता के अनुसार समझते हैं, यहाँ अन्य पशु भी रहते हैं, जो अपने हिसाब से समझते हैं। आपके पेट के कृमि के लिए भूगोल का विस्तार क्या होगा ? मनुष्यों के लिए क्या होगा ? देवताओं के लिए क्या होगा ? वेद और पुराण जब वर्णन करेंगे तो आपकी बौद्धिक क्षमता के आधार पर थोड़े ही करेंगे, वे तो पूरे ब्रह्माण्ड को हाथ पर रखे आंवले के समान देखकर वर्णन करेंगे। तालाब के मेढ़क के लिए ह्वेल की कल्पना असम्भव ही है। वैसे ही वेदों का अर्थ बताने वाले करपात्री जी का दृष्टिकोण और तात्पर्य समझना साधारण लोगों के वश की बात नहीं है। इसीलिए सिद्धान्तशिरोमणि के गोलाध्याय भुवनकोष का उद्धरण देते हुए शब्दकल्पद्रुमकार को कहना पड़ा कि पौराणिक बुद्धिमान् जो आंखों से दिखता है, उसे भी जानते हैं और जो नहीं दिखता है, उसे जानते हैं और इस प्रकार से पूरे भूगोल को उतनी ही स्पष्टता और सम्पूर्णता से देखते हैं जैसे हाथ में रखा हुआ आंवला -

केचित् प्रोचुरदृश्यदृश्यकगिरिं पौराणिकाः सूरयः॥ करतलकलितामलकवदमलं सकलं विदन्ति ये गोलम्।

हम शास्त्रों का अर्थ उनके स्तर पर जाकर यथार्थतः बताते हैं तो मूर्खों को वह अनर्थ लगता है। मूर्ख जब उन रहस्यों को न समझने के कारण अपने स्तर पर उतार कर मिलावटी बताते हैं तो वाह रे धार्मिक, वाह रे साइंटिस्ट !

(साभार पुस्तक - अमृत वचन, पृष्ठ - ४३१-४३२)

दिव्यविधा से मुझे तपोलब्ध सूर्यरहस्य में भगवान् सूर्य ने भी यही बताया है -

योजनान्येकत्रिंशच्च षोडशोनायुतानि च।
लोकेष्वप्रतिरुद्धाख्या गतिर्मौहूर्तिकी मम॥
न मत्समस्तु पथिको न नक्षत्रं ग्रहस्तथा।
न देवो नैव दैत्यो वा योऽतिक्रामेद्गतिर्मम॥
(सूर्यरहस्य, चैत्राधिकार, श्लोक - ६२-६३)

सोलह से एक कम (पन्द्रह) अयुत (दस सहस्र) एवं इकत्तीस योजन की दूरी मैं एक मुहूर्त (४८ मिनट) में गमन करता हूँ। (अर्थात् सूर्यदेव एक मुहूर्त में १५००३१ योजन अथवा अड़तालीस मिनट में १९४४४०० किलोमीटर की दूरी तय करते हैं)। मेरी यह गति संसार में अप्रतिरुद्धा (किसी के द्वारा न रोके जाने वाली) कही गयी है। मेरे समान कोई दूसरा पथिक नहीं है। कोई भी अन्य ग्रह, नक्षत्र, देवता अथवा दैत्य ऐसा नहीं है जो मेरी इस गति का अतिक्रमण कर सके।

इस गति का समर्थन ब्रह्माण्ड के मानवोत्तर प्रारूप का वर्णन करने वाले ब्रह्माण्डपुराण आदि में भी मिलता है और आधुनिक यन्त्रगत विज्ञान अपनी क्षमता के अनुसार इस गति को पहले ७२०,००० किमी प्रति घण्टे अर्थात् २०० किमी प्रति सेकंड मानता था, फिर उसमें सुधार करके ८१०,००० किमी प्रति घण्टे अर्थात् २२५ किमी प्रति सेकंड माना गया और अब (मेरी अद्यतित सूचना के आधार पर) लगभग ९००,००० किमी प्रति घण्टे अथवा २५० किमी प्रति सेकंड मानता है। यह सब गणना विभिन्न शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती है, ऑनलाइन स्पेस.कॉम आदि में भी मिल जाती है। आगे अपनी क्षमता विकसित करने पर कुछ दशकों में आधुनिक विज्ञान अन्ततः वेदोक्त मत से साम्यता रखेगा ही, ऐसा मैं समझता हूँ।

दोनों एक दूसरे के सापेक्ष भ्रमण करते हैं, भूपिण्ड भी भ्रमण कर रहा है और सूर्य भी भ्रमण कर रहे हैं। लेकिन हम चूँकि भू पर स्थित हैं, अतः भूपिण्ड को व्यवहार में चल नहीं मानते, अन्यथा व्यवहार अतिजटिल हो जाएगा। दोनों तो चल ही रहे हैं। इस ब्रह्माण्ड में एक भी ऐसा पिण्ड नहीं है जो न चल रहा हो। इस ब्रह्माण्ड का प्रत्येक पिण्ड चलायमान है। चाहे वह जीव हो या निर्जीव हो। गतिहीन तो कोई पिण्ड है ही नहीं। बस किसके सापेक्ष किसकी गति क्या है, इसका भेद हो जाता है और इसी से दृष्टि, विज्ञान और व्यवहार में भेद हो जाता है।

"नक्षत्रमाहेश्वरी" के प्रथम पटल, नक्षत्रपरिचय में मैंने लिखा है–

न क्षरति न गच्छतीति नक्षत्रम्॥ १ ॥
तत्सापेक्षिका ग्रहगतिः॥ २ ॥
अनन्तानि॥ ३ ॥

सूत्रों की हिन्दी व्याख्या में लब्धस्वर्णपदक ज्यौतिषाचार्य श्रीब्रजेशपाठकजी ने लिखा - जिसका क्षरण न हो, जो गतिमान् न हों, जो हमें स्थिर दिखें, उन्हें नक्षत्र कहते हैं। अनन्त आकाश में स्थित नक्षत्रों के सापेक्ष ही हम ग्रहों की गति, क्रान्ति, स्थिति आदि का अध्ययन करते हैं अनन्त आकाश में नक्षत्रों की संख्या अनन्त है। ब्रह्माण्ड का कोई भी पिण्ड स्थिर नहीं है परन्तु अनन्त आकाश में स्थित नक्षत्रों की गति इतनी सूक्ष्म है कि उसका अध्ययन कर पाना मानव के लिये दुष्कर है। भौतिक विज्ञान में भी दो गतिमान् पिण्डों में से किसी एक की गति का अध्ययन करने के लिये दूसरे पिण्ड को स्थिर मान लिया जाता है जिसे आप 'आपेक्षिकता का सिद्धान्त' के नाम से पढ़ते हैं, अतएव नक्षत्रों को स्थिर कहे जाने पर किसी प्रकार का संशय मन में नहीं रखना चाहिये। इति॥

"न क्षरति न गच्छतीति नक्षत्रम्" भी मैंने सूत्र दिया और "तत्सापेक्षिका ग्रहगतिः" भी सूत्र दिया। तो नक्षत्रमण्डल भी चल रहा है। लेकिन जब आप सापेक्षता के सिद्धान्त में आएँगे, तो किसी एक को स्थिर मानकर ही आपके दूसरों की गति का निर्धारण, उपदेश, व्यवहार आदि करना पड़ेगा। जब तक किसी एक को स्थिर नहीं मानेंगे, तब तक अन्य पिण्ड की गति का निर्धारण नहीं हो सकता और व्यवहार भी नहीं हो पायेगा। इसीलिए जब मैंने स्वयं ही नक्षत्रमाहेश्वरी की रचना की, तो दोनों ही सूत्र दिए– "न क्षरति न गच्छतीति नक्षत्रम्" और "तत्सापेक्षिका ग्रहगतिः"।

नक्षत्र भी चलायमान ही हैं। परन्तु जब सापेक्षिक ग्रहगति का निर्धारण करेंगे, तब कहेंगे "न क्षरति न गच्छतीति नक्षत्रम्"। तो यह भूपिण्ड भी चलायमान है और सूर्यपिण्ड भी चलायमान है, किन्तु हम इस पृथ्वी पर स्थित हैं, इसलिए इसे स्थिर मानकर सूर्य आदि की गति की गणना करते हैं। स्थिर तो कोई नहीं है। ऐसे देखेंगे, तो हर पिण्ड चलायमान है अपनी अपनी कक्षा और अपने अपने वृत्त पर। चाहे विमण्डलवृत्त हो, चाहे क्रान्तिवृत्त हो, पिण्ड चलायमान ही रहेगा। इसीलिए देखना चाहिए कि कहाँ किसे स्थिर मानकर किसके सापेक्ष किसकी गति का वर्णन है।

प्रश्न - क्या प्रक्षिप्तवाद का खण्डन करने वाले निग्रहाचार्य अल्लोपनिषत् को प्रामाणिक मानते हैं ?

निग्रहाचार्य - नहीं। इसके तीन प्रधान कारण हैं।

१) प्रक्षिप्त का अर्थ है कि ग्रन्थ तो मूल रूप में मान्य और प्रामाणिक था किन्तु बाद में किसी ने कुछ अंश उसमें प्रक्षिप्त करके मिलावट कर दी। उसे प्रक्षिप्त कहते हैं जिसका समयानुसार निग्रहाचार्य खण्डन करके शास्त्रवाक्य के प्रति उत्पन्न भ्रम का निवारण करते हैं, किन्तु अल्लोपनिषत् पूरा ही नकली है। यद्यपि संस्कृत में अल्ला, अक्का आदि का अर्थ कुछ स्थानों पर मातृपरक भी होता है किन्तु अल्लोपनिषत् के शेष शब्द आपत्तिजनक हैं और यहाँ अल्ला शब्द विधर्मियों के आराध्य के रूप में ही प्रयुक्त है। यह ग्रन्थ वास्तविक नहीं है और वेदोक्त तेजस्विता के दर्शन एवं अनुभव भी मुझे इसके पाठ से प्राप्त नहीं हुए।

२) अल्लोपनिषत् में प्रक्षिप्तवाद की सम्भावना तब बनती जब यह ग्रन्थ वास्तविक होता और इसके कुछ अंश मिलावटी होते किन्तु यह कृति पूरी तरह नकली और भ्रान्तिपूर्ण ही है। अभिनवकाल में जैसे आर्य समाज ने नकली दयानन्दोपनिषत्, रामकृष्ण मिशन ने नकली रामकृष्णपरमहंसोपनिषत्, साईं बाबा के चेलों ने साईं उपनिषत् आदि बना रखे हैं, विहंगम योग संस्था ने नकली स्वर्वेद एवं गायत्री परिवार ने नकली प्रज्ञा पुराण बना रखे हैं, जिनका कोई शास्त्रीय मौलिक आधार या समर्थन नहीं है, उसी प्रकार यह अल्लोपनिषत् भी नकली है। किसी भी मान्य पूर्वाचार्य की टीका, सन्दर्भ या भाष्य भी इसके निमित्त उपलब्ध नहीं है।

३) वेदान्त परम्परा में मुख्य १०८ उपनिषत् परिगणित होते हैं। शेष १०८ गौण उपनिषत् भी असन्दिध वेदभाग हैं किन्तु उन्हें वेदान्त दर्शन के रूप में स्वीकार बहुधा नहीं किया जाता है, यद्यपि कोई निषेध भी नहीं मिलता है। किसी व्यक्ति या प्रेस ने किसी आधार पर यदि अल्लोपनिषत् को प्रकाशित कर दिया तो इस कारणमात्र से उसे प्रमाणभूत नहीं कहा जा सकता। अल्लोपनिषत् का कोई सन्दर्भ सनातन धर्म के किसी भी मान्य ग्रन्थ, सम्प्रदाय, परम्परा अथवा आप्तपुरुष के द्वारा उल्लिखित नहीं मिलता है, अतः भी इसे नकली ही समझना चाहिए।

उत्तरकाण्ड प्रसङ्ग एवं संन्यासाधिकार विमर्श
शास्त्रज्ञ विद्वज्जनों के आशीर्वचन

(०१)

श्रीरामानन्द एवं श्रीरामानुज सम्प्रदाय में कोई सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है। भगवान् श्रीरामानन्दाचार्य जी एवं भगवान् श्रीरामानुजाचार्य जी, दोनों का विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त ही है अतः भगवान् रामानन्दाचार्य ने कोई भाष्य की रचना नहीं की क्योंकि सिद्धान्त एक ही है। उन्होंने पूर्वाचार्य के मत का ही प्रसार किया अतएव हमारे एवं श्रीरामभद्राचार्य जी के बीच सैद्धान्तिक मतभेद की तो कोई बात ही नहीं है। दो दशक पूर्व हमने 'सीता निर्वासन नहीं' नामक ग्रन्थ पढ़ा था जो सीताजी के निर्वासन को लेकर था।

ये सब उनका व्यक्तिगत मत हो सकता है और पौराणिक, महाभारतीय एवं वाल्मीकीयरामायणगत विषयों का अपने ढंग से विवेचन भी हो सकता है किन्तु हमारे आचार्य, यथा श्रीलोकाचार्यस्वामी जी जो रहस्यग्रन्थों के महत्वपूर्ण आचार्य हैं, वे श्रीवचनभूषणम् में महालक्ष्मी (श्रीजानकी) का महाविष्णु (श्रीरामचन्द्र) से तीन बार वियोग स्वीकार करते हैं - लक्ष्म्याः प्रथमविश्लेषः स्वकृपाप्रकाशनार्थम्। रावण के द्वारा हरण के समय सीताजी का श्रीराघवेन्द्रसरकार से प्रथम वियोग हुआ, कृपा के प्रकाशनार्थ। रावणवध के उपरान्त राक्षसियों को चित्रबद्ध करके दण्डित करने को उद्यत श्रीहनुमान् जी को सीताजी ऐसा करने से कृपापूर्वक रोक देती हैं। पूर्वकाल में अक्षम्य अपराधी इन्द्रपुत्र जयन्त को भी कृपापूर्वक क्षमा कर देती हैं।

निर्वासन के समय दूसरी बार सीता जी के वियोग के सन्दर्भ में श्रीवचनभूषणकार उसे पारतंत्रप्रकाशनार्थ कहते हैं। मैं तो कहता हूँ कि श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण में यह प्रसंग जब उत्तरकाण्ड में प्रारम्भ होता है, वहां से लेकर लक्ष्मण जी के लौट कर आने एवं श्रीरामजी से पुनः बातचीत करने तक यह विषय बारम्बार सहृदय लोगों को पढना चाहिये। इसको पढने से वस्तुतः पता चलता है कि भगवती सीताजी का आदर्श क्या था ! वह आदर्श बहुत ही महत्वपूर्ण था और उस आदर्श की स्थापना ही नहीं हो पाती अगर यह 'सीताजी का द्वितीय विश्लेष' भगवान् से नहीं होता। भगवान् श्रीराघवेन्द्रसरकार के आदर्श की स्थापना तो पूर्णतया हो चुकी थी किन्तु भगवती जनकनन्दिनी जानकी के आदर्श की स्थापना तो इसी में है। इसीलिए मैं यही कहूँगा कि यह सब विषय बड़े गम्भीर हैं और आचार्यों ने इसका अनुसन्धान किया है। अपने प्रातिभप्रागल्भ्य के बल पर हम शास्त्रीय, स्थापित एवं अनुष्ठित परम्पराओं को, विचारों को इस तरह से उपेक्षित नहीं कर सकते हैं, तिरस्कृत और अस्वीकृत नहीं कर सकते हैं। उपजीव्यविरोध का परित्याग करके, पूर्वाचार्यों के मत के अनुसार चलते हुए, भगवान् श्रीरामानुजाचार्य जी ने स्वतन्त्र सामर्थ्य होने पर भी ब्रह्मसूत्र की बोधायन वृत्ति प्राप्त करके ही श्रीभाष्य का व्याख्यान किया।

यह विचारणीय विषय है, केवल वाल्मीकीय रामायण में ही सीतनिर्वासन का प्रसंग नहीं है, अपितु अन्यत्र भी पुराणों में इसके सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। हम सभी आचार्यों की एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी यह बनती है कि भगवान् के प्रति, भगवान् के परमप्रियप्राणतमा श्रीजनकनन्दिनी जानकी जी के प्रति, भगवान् के श्रीरामकृष्णवामननृसिंहादि समस्त स्वरूपों के प्रति जो संसार में धारणा है, उसे हम किसी एक बात को सिद्ध करने के चक्कर में छिन्न-भिन्न न करें अन्यथा हमसे बहुत बड़ा अपराध हो जायेगा। इसीलिए, हमें लोगों की भावना को विकृत नहीं करना चाहिये। भगवान् वाल्मीकि भी कहते हैं -

अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः।

अर्थात् प्रार्थना करने पर भगवान् विष्णु ही श्रीराम के रूप में आते हैं।

वेदव्यास जी कहते हैं -

देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः।

आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः॥

भगवान् रामानुजाचार्य जी तो अवतार एवं अवतारी में कोई भेद ही नहीं मानते, अपितु एकत्व एवं एकनिष्ठा स्वीकार करते हैं। कोई भेद करता है तो वह अपराधी है, यह भी स्वीकार करते हैं।

इस विषय पर निष्पक्ष शास्त्रीय चिन्तन होना बहुत आवश्यक है। पूर्वाग्रहग्रहीत चिन्तन न तो जगत् का कल्याण कर सकेगा और न स्वयं का कल्याण कर सकेगा। तो विद्वानों की विचारपद्धति, विद्वानों की शास्त्रीय परम्परा के अनुसार विवेचनापद्धति सर्वदा-सर्वथा-सर्वत्र स्तुत्य है। महर्षि वाल्मीकि, वेदव्यास एवं पूर्वाचार्यों से अविरुद्ध अर्थ रखते हुए उनके सिद्धांतों को प्रकाशित करने के लिए यदि अपने प्रतिभाप्रागल्भ्य के बल पर हम उसका निर्वचन करते हैं तो उन ऋषियों एवं आचार्यों का भी आशीर्वाद हमें मिलता है। सनातन धर्म में शास्त्रार्थ की परम्परा रही है। यह विचारणापद्धति तो भारतीय संस्कृति की अमूल्य सम्पत्ति है। लोकतंत्र में वाणी चलती है, लेखनी चलती है, तलवार नहीं चलती, बलप्रयोग नहीं होता है। यही लोकतंत्र की विशेषता है एवं यही शास्त्रतंत्र की भी विशेषता है।

प्राचीनकाल में शास्त्रार्थ की सभायें होती थीं। लीलापूर्वक किसी कार्य को करने के लिए अलग से कोई पक्ष लेकर भी प्रतिभा का व्यायाम किया जा सकता है किन्तु उसे सिद्धान्त नहीं माना जा सकता है। वाल्मीकीय रामायण में पाठक देखें कि महर्षि जाबालि ने चित्रकूट में भगवान् श्रीराम को लौटाने के लिये जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, श्रीराम जी ने क्रुद्ध होकर जाबालि से कहा कि आपका कथन अनुचित है। अन्ततः भगवान् को क्रुद्ध जानकर वशिष्ठ जी को कहना पड़ा -

जाबालिरपि जानीते धर्मस्यास्य (लोकस्यास्य) गतागतिम्।

निवर्तयितुकामस्तु त्वामेतद्वाक्यमुक्तवान्॥

जाबालि महर्षि भी धर्म के तत्त्व को जानते हैं, स्नेहप्रस्कन्नमनसा ... स्नेह में बहकर आपको लौटाने के लिये इन्होंने ऐसा कहा है। अर्थात् शास्त्रार्थ की परम्परा में प्रतिभा का प्रकाशन करने के लिये उस समय कोई प्रतिभा के बल पर कुछ कहे तो वह मात्र प्रतिभा का व्यायाम है। अच्छी बात है, किन्तु उसी को सिद्धान्त मान लेना उचित नहीं है।

बहुत से पूर्वाचार्यों के ऐसे विचार हैं, जगद्धिताय सर्वजनसुखाय हैं, उनका सम्मान करें, श्रुतिस्मृतिपुराणविरोध न होने पावे एवं श्रुतिस्मृतिपुराणनिष्ठ जीवन जीने वाले शिष्ट आचार्यों से भी विरोध न हो सके, वेदानुमोदित स्मृतियों एवं स्मृत्यनुमोदित पुराणों से विरोध न हो सके, इस तरह हमें लोगों के बीच में विचार प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। कोई भी विचार है तो उसका समाधान विचारों के बल पर करना ही शास्त्रोचित पद्धति है। लाठी के बल पर समाधान कैसे होगा ? व्यवधान अवश्य हो सकता है। मैं यही सोचता हूँ कि श्रीभागवतानंद जी के लिये शास्त्रीय परम्परा, महर्षि वाल्मीकि की विचारणा, भगवान् वेदव्यास की भावना, वेदानुमोदित शास्त्रों एवं वेदों के विपरीत न जाती हुई, सनातन संस्कृति का सर्वथा-सर्वदा-सर्वत्र प्रचार प्रसार करते हुए इस विचारसरणी के माध्यम से, जिसमें कोई हठ या दुराग्रह न हो, शास्त्रीय मन्तव्यों का परिपूर्ण समर्थन एवं परस्पर विरुद्ध बातों का भी समन्वय करते हुए आज समाज में परस्पर सन्धायपद्धति का अनुसन्धान करते हुए विचार प्रस्तुत करने की आवश्यकता है।

मैं पूज्य तुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु रामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्य जी महाराज का अग्रज के रूप में, मात्र अवस्था अधिक होने के कारण ही नहीं, अपितु शास्त्रों में उनके श्रम को और उनके द्वारा किये गये व्याकरण के कार्यों को देखते हुए हृदय से उनका सम्मान करता हूँ और उनकी उन सभी बातों का समर्थन करता हूँ जिसमें पूर्वाचार्यों का किसी भी प्रकार से सिद्धान्तविरोध न हो। मूलतः भगवान् वेद एवं वेदावतार श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में षट्काण्डानि तथोत्तरम्, तथोत्तरम् के द्वारा उत्तरकाण्ड को स्वीकार किया जाता है और आचार्यों ने उसे स्वीकार किया है, पूरे अंश पर व्याख्यान भी किया है।

प्रतिभा के बल पर तो कोई भी बात किसी भी तरह से कही जा सकती है, वह अलग विषय है। किन्तु पूर्वाचार्यों ने क्या स्वीकार किया है, इसे ध्यान में रखकर उसे भी उसी प्रतिभा के बल पर सिद्ध किया जाये तो वह प्रतिभा वन्दनीया, ध्येया, स्वीकार्या, अनुष्ठेया होगी और जगत्कल्याणकारिणी भी होगी। मैं अपनी बात रखते हुए, अपने विचारों को शिष्टाचारपूर्वक प्रस्तुत करने वाले श्रीभागवतानंद गुरुजी को हृदय से धन्यवाद देता हूँ कि ये साहित्यसर्जन में लगे हुए हैं, ये इसी प्रकार से साहित्यसर्जन करते रहें। आचार्यों की सन्निधि में भी पहुँच करके विचार-विमर्श करते रहें एवं उन विमर्शों को यथावत् लिपिबद्ध भी करते रहें। किसी से कोई मतभेद है तो दूरभाष से भी विचार विमर्श करना अधिक उपयुक्त एवं समाज के लिये लाभदायक भी होता है क्योंकि लेखबद्ध शास्त्रार्थों की परम्परा कभी समाप्त नहीं होती है, वह चलती ही रहती है, आजतक चल रही है।

कलहरहित, परस्पर मनोमालिन्यरहित एवं शिष्टाचारानुमोदित किसी भी प्रकार की विचारपरम्परा यदि चल रही है, चलती है तो उसका स्वागत होना चाहिये। भूमिका को पढने से जैसा पता चला, उस सन्दर्भ में यही कहूँगा कि विचारपद्धति एवं

विचारपरम्परा को बलपूर्वक दबाना उचित नहीं है। इन्हीं शब्दों के साथ मैं अपने विचारों, पूर्वाचार्यों के विचारों एवं पूर्वर्षियों के विचारों को जगत् में पहुंचाने वाले विचारकों का हृदय से धन्यवाद करते हुए यह शुभकामना व्यक्त करता हूँ कि उदीयमान विचारक श्रीभागवतानंद जी, जिनके नाम के आगे 'गुरु' शब्द का प्रयोग होता है, ऐसे श्रीभागवतानंद गुरु जो कह रहे हैं और हमारे अग्रज 'जगद्गुरु' श्रीरामभद्राचार्य जी महाराज जो कह रहे हैं, उन बातों में, केवल तलवार चलाने वाली, बलप्रयोग करने वाली बातें छोड़ करके सभी बातें विचार की पद्धति से स्वीकार की जाती हैं। बात ऐसी है कि शास्त्रों की विचारपद्धति, शास्त्रीय परम्परा, शास्त्र चिन्तन, यह सब विद्वानों का पाथेय है, इसके बिना विद्वान् रहेंगे कैसे ? और पाथेय तो होना भी चाहिये, आवश्यक भी है। इसमें शास्त्र ही न्यायालय है।

शास्त्रों के प्रमाणबल और प्रमाणसंख्या को, उनके अर्थ को हम अपनी बुद्धि के बल पर बदल दें, केवल व्याकरण की व्युत्पत्ति के बल पर मूल से विरुद्ध मनमाना अर्थ कर दें तो यह अव्यवस्था की बात हो जायेगी, समस्यायें उत्पन्न होने लगती हैं। ऐसा करना प्रतिभा हो सकती है, सिद्धान्त नहीं। प्रतिभा के भाव को सिद्धान्त नहीं माना जा सकता है। मैं इन सभी विचारकों का हृदय से अभिनन्दन करते हुए ग्रन्थकर्ता के प्रति भगवान् श्रीकोसलेश की सन्निधि से यह विज्ञापन करना चाहता हूँ कि भगवान् उन्हें श्रुतिस्मृति पुराणप्रतिपादित सिद्धान्तों, चरित्रों, आख्यानों के माध्यम से भारतीय संस्कृति को समृद्ध करने, पुष्ट करने की शक्ति प्रदान करें।

अस्तु ...

श्रीमज्जगद्गुरु रामानुजाचार्य श्रीस्वामी वासुदेवाचार्य 'विद्याभास्कर' जी महाराज

श्रीकोसलेशसदन, श्रीअयोध्याधाम

(०२)

श्रीभागवतानंद जी साधना एवं कीर्ति में बहुत आगे निकल चुके हैं, भारतवर्ष के श्रेष्ठ विद्वानों में गणना हो चुकी है। धन एवं पद से ही कोई बड़ा नहीं होता कि उसकी बात को ही प्रामाणिक माना जाए। श्रीभागवतानंद जी की सरलता, एकाग्रता एवं स्पष्ट वक्तव्य अद्भुत है। वे हिन्दुओं के लिए गौरव हैं। जिस २३ वर्ष की आयु में युवक-युवतियां नशा एवं फोन की पतनकारिणी वार्ता में व्यस्त रहते हैं, साथ ही आयु, यौवन, समय एवं धन के नाश में लगे रहते हैं, उस अवस्था में श्रीभागवतानंद जी अठारह-अठारह घण्टे धार्मिक लेख लिखते हैं, यह अद्भुत बात है। कितनी धर्मनिष्ठा है, शास्त्रों के संरक्षण के प्रति दृढ़ सङ्कल्प है ! उन लोगों की बुद्धि का स्तर क्या होगा जो धर्म की ओट में धन, पद, प्रतिष्ठा के लिए धर्मग्रन्थों को ही प्रक्षिप्त बताने लगे हैं, यह समाज को सोचना पड़ेगा। शास्त्र की रक्षा में तत्पर श्रीभागवतानंद गुरु देश, धर्म, संस्कृति के प्रति समर्पित, भौतिक वासना एवं सुविधाओं का बलिदान करके तपस्या एवं अध्ययन में रत हैं। श्रीभागवतानंद गुरु अल्प अवस्था में, अविवाहित, निडर, निर्भीक, अदम्य साहस के साथ सभी षड्दर्शन ,षट्सम्प्रदाय के प्रति समान, समसरता का भाव रखते हुए श्रुति, स्मृति, पुराण, तन्त्रादि शास्त्रों का गहनतम अवलोकन करके स्वयं के युक्तियुक्त तर्कसंगत वाक्यों के द्वारा शास्त्रों के विषय में भ्रमित समाज को सवारने में लगे हैं। ऐसे व्यक्तित्व के प्रति भी कुछ अविवेकी जन अपशब्द, अभद्रता का व्यवहार कर रहे हैं, यह दुर्भाग्यपूर्ण है। इस प्रकरण को देखने पर अनायास ही, श्रीमदाद्यशङ्कराचार्य जी के गीताभाष्य का वचन स्मरण हो आता है - ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्याद्वैदिको धर्मः। ब्राह्मणत्व की रक्षा से ही वैदिक धर्म सुरक्षित रह सकता है, यह उक्ति चरितार्थ हो जाती है।

श्रीदण्डी स्वामी ब्रजेश्वराश्रम जी महाराज

(०३)

'उत्तरकाण्ड प्रसङ्ग एवं संन्यासाधिकार विमर्श' नामक ग्रंथ का प्रकाशन स्वनामधन्य श्रीभागवतानंद गुरु जी के द्वारा कराया जा रहा है, यह आनन्द का विषय है। जो भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत भाषा के मूलाधार एवं मूल स्रोत अपौरुषेय ग्रंथ वेद हैं, जो भगवान् स्वयं वेदवेद्य हैं, जिनकी जीवनगाथा महर्षि वाल्मीकि जी ने रामायणरूपी गायत्रीभाष्य के रूप में समाज को दिया है, उसमें उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त कहना महान् असह्य अपराध है। आधुनिक समाज में बौद्धिक क्षमता को दृष्टिगत करते हुए परम भागवत श्रीभागवतानंद गुरु के अथक प्रयास से 'उत्तरकाण्ड प्रसङ्ग एवं संन्यासाधिकार विमर्श' नामक खण्डनग्रन्थ का प्रणयन किया गया है जिसमें सभी वेदतन्त्रपुराणोपनिषदादि ग्रंथों से सप्रमाण संग्रह करके अत्यन्त सुन्दर प्रस्तुति दी गयी है। अतः समाज में सीतानिर्वासन एवं शम्बूकवध आदि विषयों को लेकर जो विकृति एवं भ्रम का प्रसार

किया जा रहा है, उसका सुगमता से निराकरण हो सकेगा एवं सभी जन लाभान्वित हो सकेंगे। यह अत्यन्त सराहनीय कार्य है जो जिज्ञासुओं के भ्रमभंजन के एक उत्कृष्ट साधन के रूप में उपलब्ध हो रहा है। हमें पूर्ण विश्वास है कि उदार पाठकगण ग्रन्थकार के स्तुत्य प्रयास का हृदय से स्वागत करेंगे। भगवान् श्रीराजराजेश्वर से प्रार्थना है कि इनके इस सुप्रयास को सर्वथा सफल बनायें। मेरी यही शुभकामना है। जय श्रीमन्नारायण !

श्रीमज्जगद्गुरु रामानुजाचार्य श्रीस्वामी विश्वेशप्रपन्नाचार्य जी महाराज
श्रीसुग्रीवकिला, श्रीअयोध्याधाम

(०४)

आपका लेख पढने पर बहुत समयोपरान्त किसी में इतनी तीव्र शास्त्रनिष्ठा का दर्शन होने की प्रतीति हुई। परमपूज्य महाराजश्री धर्मसम्राट् करपात्री स्वामी जी के पथ का अंशतोऽपि अनुगमन हम कर सकें, यही प्रयास है। आपमें वह झलक दिखती है, जिसे खोने की परवाह नहीं, पाने को इस जग में कुछ धरा नहीं। आपके लिए व्यंजनावृत्ति के आश्रय से खण्डनीय का संकेत करना अधिक समीचीन होगा जैसा कि हमारे आचार्यों की शैली है। यह एक कटु सत्य है कि स्थापित लोग कभी भी किसी भी क्षेत्र में नये प्रतिभाशाली से आशङ्कित होकर उसे जमने नहीं देते। स्वघोषित अनुचर-पोषित अनैतिक सत्ताधीश सर्वत्र हैं। आपका लेख अतीव सारगर्भित, विस्तृत, प्रामाणिक, समाधानोन्मुख है, जिसे मैंने समग्र पढ़ा है। सैकडों वर्षों में कोई कोई इतना दुर्धर्ष-लेखनकलावित् जन्म लेता है। नियति आपसे अवश्य महान् कार्य कराएगी।

आपकी लेखनी में एक विलक्षण प्रहार की क्षमता है। वेदभगवान् आपकी रक्षा करेंगे। अतिश्रमसाध्य प्रमाणान्वेषण, तदनुशीलन चिंतन तथा टंकण, वह भी इतने विशालस्तर पर, यह अद्भुत प्रतिभा है। आज के स्वार्थसाधनपरायण - प्रचुरजनसम्मर्द में ऐसी अदम्य, अडिग, निर्वैर, निर्भय शास्त्रनिष्ठा वाले आपको पाकर मां भारती इठलाती होगी। शास्त्रोपासक ऋषिजन प्रमुदित होते होंगे। सनातनधर्म सचमुच भगवद्रक्षित धर्म है। इसका पोषण करने हेतु धरा पर विभूति आती ही रही हैं एवं आगे भी सदैव आती रहेंगी। आप भी, सनातन के सजग प्रहरी, किसी महापुरुष से कम नहीं है। भविष्य आपकी तेजस्विता के धवल प्रकाश से प्रकाशवान् दिख रहा है। आप सनातन धर्म की अनुपम धरोहर हैं। हमारी सर्वविध-शुभाशंसा सदैव आपके साथ है।

समर्थश्री त्र्यम्बकेश्वर चैतन्य ब्रह्मचारी जी महाराज

(०५)

बालोऽहं जगदानन्दो न मे बाला सरस्वती।
अपूर्णे पञ्चमे वर्षे वर्णयामि जगत्त्रयम्॥
जय श्रीमन्नारायण !

भारतवर्ष में सदैव प्रतिभाओं का उदय होता रहा है। उसी शृंखला में आदर तथा गम्भीरता के साथ यदि देखा जाए, तो झारखण्ड - बोकारो के निवासी एवं भारत के गौरव श्रीभागवतानंद गुरुजी का नाम भी आता है जिनकी लेखनी सदैव शास्त्रीय प्रमाणों की शोधपरक रक्षा करती है। किसी के भी बाह्य वैभव को देखकर आप उसके शास्त्रविरुद्ध कृत्य या वक्तव्यों के सामने नतमस्तक नहीं होते हैं। श्रीभागवतानंद गुरु जी अवस्था में कम हैं, किन्तु एक ज्ञानवृद्ध के पास जो ज्ञान होना चाहिए, वह इनके पास है, अतएव इनका हम अभिनंदन करते हैं। आपका विद्यावैभव बहुत पुष्ट है, हमने आपके इस लेखन का सिंहावलोकन किया। इसमें आपने नाना पुराणों एवं ग्रंथस्थलों का विवेचन प्रस्तुत किया है, जिसे एक पुस्तिका लेकर अवश्य संकलित करना चाहिए।

यह भी सत्य है कि आपके लेखों को अक्षरशः एक बार नहीं, अपितु कई बार पढ़ना चाहिए। यह विडम्बना है कि आप जैसे सुयोग्य व्यक्तित्व को वास्तव में जो सम्मान मिलना है, वह समाज में नहीं मिल पा रहा है, जो खेद का विषय है। श्रीभागवतानंद गुरुजी सनातन धर्मावलम्बियों के लिए एक आदर्श हैं, जिनका परिचय अपने आप में गौरवयुक्त है। सदैव शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर वार्ता करने की निश्चित बुद्धि है। आपके लेख गम्भीर विवेचना के लिए प्रसिद्ध हैं, हम आपके मंगल की कामना करते हैं। सम्भावना करते हैं कि निरंतर अपनी आध्यात्मिक गुरुता की किरणों से समस्त सनातन धर्मावलम्बियों को अनुप्राणित करते हुए धर्मध्वज के सफल संवाहक के रूप में आप चिरकाल तक प्रतिष्ठित रहें।

जय श्रीमन्नारायण

श्रीमज्जगद्गुरु रामानुजाचार्य श्रीस्वामी मधुसूदनाचार्य वेदान्ती जी महाराज

(०६)

॥ अशंसयम्॥

श्रीभागवतानन्देन गुरुणा विरचितं 'उत्तरकाण्ड प्रसङ्ग एवं संन्यासाधिकार विमर्श' इति ग्रन्थरत्नमवालोकि मया। तत्र कणेहत्य पुराणोपनिषत्स्मृतिसमुद्धृतसिद्धान्तमुपस्कुर्वन् स्वेच्छयोल्लापितवाग्विलासपुरःसरसमुज्जृम्भितात्मख्यातिवशीकृताहम्मन्यविजल्पनसरणिमनङ्गीचकार। पूर्वपक्षसमीरितकल्पितसिद्धान्तपोषणवृत्ति मशेषामनेकशास्त्रोक्तवाक्शेमुषीसहकृतसुवचोभिर्गुरुरयं भागवतीं मनीषां सगौरवं पोस्फुटीति। वाल्मीकीयमुदञ्चयन्नपि भवभूतिवाग्झरीमुत्तररामचरितजन्यामपि सुदृढमभिमतमुपस्थापनाय समुदाजहार। संन्यासाधिकारप्रसङ्गेऽपि नैकविधानुल्लेखचयान् प्राकाशि विदुषानेन। स्वयम्भूत्वमचखण्डत् स्वच्छन्दतामचखण्डत्, परम्परां मंमनीति, पूर्वाचार्यान् मंमन्यते शास्त्राभिप्रायप्रकटनचातुरीमसहमानस्तत्तात्पर्यमभितस्तोष्टवीति ग्रन्थोऽयम्। भारतीयमनीषावैभवरिरक्षिषया स्वकल्पितविचारप्रसारणकल्पनामयं सविनयमस्वीचक्रे। ग्रन्थमिमं पाठं पाठं, प्रस्तुतिं ध्यायं ध्यायं सहर्षमयं जनः कामयते यदयं क्रमः समाजस्य भ्रमनिवारणैकनिष्ठुरः सन् प्रमत्तां प्रवृत्तिमग्रेऽपि दर्शं दर्शं शास्त्रालोचनलोचनेन प्रकामं वाग्धारां ज्येष्ठाचार्याणामनुवर्तयन् ससम्मानं यथावसरं प्रवर्तितः स्यादविच्छिन्नतया। एतदर्थं श्रीभागवतानन्दगुरोः प्रयासोऽभिनन्दनीयः। विदुषां व्रातः पल्लवितामिमां वाणीं सादरं स्वीकरिष्यतीति मदीयो दृढतरः विश्रम्भः स्यादित्याशासे।

महामहोपाध्यायः पण्डितराज आचार्यो मिथिलाप्रसादत्रिपाठी
(राष्ट्रपतिना सम्मानितः) पूर्वकुलपतिः
महर्षि पाणिनि संस्कृत एवं वैदिक विश्वविद्यालय, उज्जैन

(०७)

'उत्तरकाण्ड प्रसङ्ग एवं संन्यासाधिकार विमर्श' ग्रन्थ का सावधानतया निरीक्षण किया। इस ग्रन्थ में चित्रकूटस्थ तुलसीपीठाधीश्वर स्वामिश्रीरामभद्राचार्य जी के अशास्त्रीय विचारों का सप्रमाण और सयुक्तिक खण्डन किया गया है। ग्रन्थकार ने बड़ा ही पवित्र कार्य किया है। जो वाणी खण्डित नहीं हो तो वह स्वीकृत मानी जाती है - स्वाकृतैव खलु वागपरास्ता। श्री अभिराजराजेन्द्र मिश्र के 'जानकीजीवन' काव्य में भी श्रीरामभद्राचार्य जी उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त घोषित किये हैं। जो गोस्वामी श्रीतुलसीदास के श्रीरामचरितमानस की चौपाईयां बदल दे और बांसुरी का 'गदा' अर्थ करे, वह कुछ भी अकार्य कर सकता है। 'केशानवतीति केशवः' ऐसी व्युत्पत्ति भी मैं उनके मुख से सुन चुका हूँ जो पाणिनि के अनुशासन से विरुद्ध है।

महाकवि कालिदास, भवभूति, राजशेखर, दिङ्नाग आदि अनेक महामनीषी कवियों के महाकाव्यों में उत्तरकाण्ड की कथा यदि मिलती है तो शिष्टपरम्परापरिगृहीत होने से उसे महर्षि वाल्मीकिकृत ही माना जायेगा। पाश्चात्यों ने बालकाण्ड के अनेक सर्गों को और उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त कहा है जिनका पोषण द्रव्यलोभ से प्रचोदित होकर अनेक लोग करते हैं। श्रीरामभद्राचार्य जी महाराज भी उन्हीं लोगों में से अन्यतम हैं। तिलकटीका के साथ छपे रामायण के उत्तरकाण्ड के कुछ सर्ग 'प्रक्षिप्त' के रूप में छपे हैं। वे भी प्रक्षिप्त नहीं हैं, इसमें मुझे प्रमाण मिला है। ध्वन्यालोक की लोचनटीका में आचार्यश्री अभिनवगुप्त ने इन्द्रवज्रा के एक पाद को उद्धृत किया है - क्रोधोऽपि देवस्य वरेणतुल्यः। यह अंश प्रक्षिप्त माने जाने वाले सर्ग के श्लोक का है।

सर्वमान्य महामाहेश्वर संज्ञा से समलङ्कृत आचार्य की दृष्टि से तो यही सिद्ध हो रहा है कि वाल्मीकिरामायण का कोई भी श्लोक या सर्ग प्रक्षिप्त नहीं है। एवञ्च पूरे काण्ड को ही प्रक्षिप्त घोषित कर देना बहुत बड़ा साहस है। मनीषियों को यह सह्य नहीं होना चाहिये। प्रकृत ग्रन्थ के रचयिता के श्लाघनीय प्रयास को हम नमन करते हैं। हमारे आर्ष वाङ्मय पर होने वाले आक्रमण का निराकरण इसी प्रकार होते रहना चाहिये। यह ग्रन्थ प्रक्षेपध्वान्त प्रेमियों की निविडतमिस्रा का निरास करके आस्तिकजनों को आह्लाद प्रदान करे, ऐसी कामना भगवान् श्री श्रीनिवास से करता हूँ।

प्रो० कमलाकान्त त्रिपाठी

आचार्य - पूर्वमीमांसाविभाग

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

(०८)

महानयं हर्षस्य विषयो यद्गुरूपाह्वैः श्रीभागवतानन्दमहोदयैरुत्तरकाण्डप्रसङ्ग एवं संन्यासाधिकारविमर्शनामा ग्रन्थः प्रणीतः। अस्य ग्रन्थस्य केचिदंशा मयापि मण्डूकप्लुत्यावलोकिताः। मान्यानां वाल्मीकिव्यासप्रभृत्युपजीव्यानामृषीणां वचनेषु धूलिप्रक्षेपणं विदुषा ग्रन्थकृतानङ्गीकृतमत एव स्वमनीषया विचारपूर्वकमनेन वाल्मीकिव्यासादिवचनासहिष्णूनां विदुषां तर्का निरस्ताः सप्रमाणं तद्विद्वद्भिर्विचारशीलैरवश्यमेवावलोकनीयाः।

यदिनामात्र किमपि क्षोदक्षमं तत्त्वं विलोक्यते तदवश्यमेव पिपठिषूणां जिज्ञासूनां सन्देहनिवारणाय प्रमापणीयमेव 'वादे वादे जायते तत्वबोध' इति नयेन द्वयोरपि विदुषोस्तर्कश्रवणविचारणद्वारा भविष्यत्येव प्राकृतानामपि जनानां यथातथ्यं जिज्ञासूनां लाभः। विदुषो लेखकस्य कृते आस्माकीनाः सद्भावनाः। नूनमस्य ग्रन्थस्यावलोकनेन सेत्स्यत्येव निष्कृष्टार्थबोध इति कामयते भगवन्तं वृन्दावनविहारिणम् नमन्नयञ्जनः -

डॉ० श्रीरामकृपालत्रिपाठी
प्राचार्यचरः - श्रीरङ्गलक्ष्मीआदर्श संस्कृतमहाविद्यालयस्य वृन्दावनस्थस्य

(०९)

॥ परमात्मने नमः॥

अधुना काल के धर्मविपरीत प्रबल प्रवाह से वर्ण तथा आश्रम मर्यादा कृशकाय हो रही है। उसके प्रभाव से लोक में विपरीत, अनर्थ और असत् विषय – सम्यक्, सार्थक तथा सद्रूपवत् भासित हो रहा है। सिकता तथा शर्करा मिश्रण के समान, सत्य और अनृत मिश्रित आचरण के भयावह काल में धर्म, सत्य, तप तथा सारस्वत आचरण विभूतिमान् वरेण्यजन ही धर्म के सम्बल हैं। उनके आचरण और वचन ही शास्त्रों के मर्म को लोकगम्य व्यवहार में व्यक्त करते हैं। आश्रमचतुष्टय (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) का चूडान्त संन्यास आश्रम परम योग्यता तथा चरम उपलब्धि है।

जब कलिकाल के प्रबलवेग से धर्मस्तम्भ प्रकम्पित हो रहे हैं, ऐसी दशा में पराम्बा की अहैतुकी कृपा सम्पन्न, उनके सारस्वतशक्तिलब्ध, प्रातिभज्ञानसम्पन्न, आचार्य श्रीभागवतानंद गुरु की 'संन्यासतत्व, स्वरूप तथा अधिकारी' विषयाधारित 'उत्तरकाण्ड प्रसङ्ग एवं संन्यासाधिकार विमर्श' रचना संन्यासाधिकार के सर्वांगीण स्वरूप को लोकगम्य शैली में अभिव्यक्त करती है। पुनश्च, अधुना प्रव्रज्यासम्बन्धी विविध प्रचलित अशास्त्रीय भ्रमभञ्जन के साथ नीरक्षीरविवेचनी दृष्टि भी देती है। इस ग्रन्थ का प्रयोजन तब और सार्थकता को प्राप्त होता है, जब यह संन्याससम्बन्धी धर्मशास्त्रीय मानदण्डों में से 'उक्त' को स्पष्ट करता है, 'अनुक्त' को व्यक्त कर 'दुरुक्त', को सम्यक् परिप्रेक्ष्य में अशेष अभिव्यक्त करता है। आचार्य श्रीभागवतानंद गुरु की यह रचना 'संन्यास सम्बन्धी मर्यादा विचार हेतु एक संग्रहणीय ग्रन्थ' के रूप में लोकविश्रुत होगी।

अशेष मंगलकामना सहित,

विद्यावारिधि पं० दीनदयालमणि त्रिपाठी

आदिशंकर वैदिक विद्या संस्थान, लखनऊ

(१०)

श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा 'उत्तरकाण्ड प्रसङ्ग एवं संन्यासाधिकार विमर्श' नामक पुस्तक का लेखन एवं प्रकाशन कराया जा रहा है, यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है। उक्त पुस्तक चित्रकूटस्थ तुलसीपीठाधीश्वर स्वामिश्रीरामभद्राचार्य - पक्षधरखण्डन है। वस्तुतः जो महानुभाव स्वयं चित्रकूट पीठ की स्थापना कर अपने आपको चित्रकूटपीठाधीश्वर घोषित किये हुए हैं, वे जगद्गुरु कहलाने योग्य हैं या नहीं यह विचारणीय है क्योंकि जो अपने आपको पूर्वकालीन विभिन्न मतप्रवर्तक जगद्गुरुओं से श्रेष्ठ मानता हो तथा उन परम सम्माननीय जगद्गुरुओं को अपशब्द से व्यक्त करता हो, वह जगद्गुरु नहीं हो सकता है।

जिन श्रीमज्जगद्गुरुरामानन्दाचार्य जी की परम्परा में उक्त श्रीमान् जी ने दीक्षा ली है, उन्होंने भी अपने जीवन काल में कभी भी किसी भी जगद्गुरु के लिए अपशब्द का प्रयोग नहीं किया हैं। श्रीमान् जी अपने आपको संसार का सर्वश्रेष्ठ विद्वान समझते हैं। जब तक अन्य विद्वानों के द्वारा स्वीकृत न किया जाय कि यह विद्वान् हैं तब तक कोई भी विद्वान् नहीं हो सकता। 'शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः' के अनुसार जो शास्त्र का अध्ययन करके तदनुसार अपना जीवन व्यतीत न करता है, वह शास्त्र पढ़कर भी अनपढ़ जैसा होता है।

विद्याविवादाय धनं मदाय शक्तिं परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतज्ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

उक्त श्लोक के अनुसार यदि दुष्ट को विद्या प्राप्त हो जाती है तो उसकी विद्या मात्र विवादकरी होती है, धन मददायक तथा शक्ति अपने से भिन्न लोगों की परिपीड़नी होती है किन्तु साधु पुरुषों की विद्या ज्ञानदायिनी, धन दान के लिए तथा शक्ति प्राणीमात्र की रक्षा करती है। अब स्वयम्भू जगद्गुरु जी विचार करें कि विद्या प्राप्त करके क्या कर रहे हैं ? 'सा विद्या या विमुक्तये' के अनुसार सांसारिक प्रपञ्चों से सदा सर्वदा के लिए छुटकारा मिले, ऐसा प्रयास अपनी विद्या के द्वारा करनी चाहिए किन्तु श्रीमान् जी कर क्या रहे हैं ?

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।

पात्रत्वाद्धनमाप्नोति ततो धर्मस्ततः सुखम्॥

उक्त श्लोक के अनुसार आप विचार करें कि आप में विनम्रता है या नहीं ! गैरिकवस्त्रधारण करने से क्या होता है ? अपने को विरक्त मानने वाले श्रीमान् जी आत्मावलोकन करने का प्रयास करें। विरक्त शब्द का तात्पर्यार्थ है, विशेष = परमात्मनिरक्तः संलग्नः अर्थात् सदा सर्वदा परमात्मचिन्तनपूर्वक जीवनयापन करता हो, वही विरक्त है। गृहस्थ भी विरक्त होते हैं, क्या राजा जनक विरक्त नहीं थे ? अतः श्रीमान् जी अपनी जीवनशैली में परिवर्तन लावें, तभी कल्याण होगा। यदि मेरी लेखनी ने अपना कार्य करना प्रारम्भ कर दिया तो कहाँ है जौनपुर जहां श्रीमान् जी ने जन्म लिया ? तथा काशी में साक्षात् पाणिनिकल्प वैकुण्ठवासी श्रीरामप्रसाद त्रिपाठी जी से अध्ययन किया। उसी काल में वैकुण्ठवासी आचार्य बद्रीनाथशुक्ल जी से मैंने भी काशी में रहकर अध्ययन किया है, श्रीमान् जी के अतीत से पूर्ण परिचित हूँ। श्रीभागवतानंद गुरु का यह लेखन, प्रकाशनादि तथा उसमें प्रतिपाद्य विषय एवं शैली प्रशंसनीय है। इसी प्रकार इनकी लेखनी द्वारा लोगों के गर्व का मर्दन होता रहे। मैं परमपिता परमेश्वर से श्रीभागवतानंद गुरु के लिए प्रार्थना करता हूँ कि इनकी लेखनी निरन्तर अबाधगति से चलती रहे। समस्त शुभकामनाओं सहित मंगलानुशासन करता हूँ।

आचार्य रामसुदर्शन मिश्र
प्राचार्य - श्रीरङ्गलक्ष्मी आदर्श संस्कृत महाविद्यालय वृन्दावन

(११)

॥ न निश्चितार्थाद् विरमन्ति धीराः॥

चतुरुत्तरद्विशतं पृष्ठेषु भागदशके श्रीभागवतानन्दगुरुप्रणीत उत्तरकाण्डप्रसङ्ग — संन्यासाधिकारविमर्शनामको ग्रन्थो व्यवालोक्यत मया। ग्रन्थोऽयं वादे वादे जायते तत्त्वबोध इति धिया स्पन्दयते शिक्षास्मृतिपुराणादितत्त्वज्ञान् प्रेरयति तर्कोपायदीक्षितानान्दोलयति श्रीरामचरितविमर्शकान् खण्डनमण्डनदिशा चेति। निश्चितार्थान्न विरमन्ति धीरा इति धिया सुधीतल्लजाः शास्त्रप्रमाणपुरस्सरं सर्वस्वसमर्पितास्तत्त्वजातं निष्पादयन्त्येव । मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना इति दृशा शास्त्रवैशारद्यमवलोक्यमानं ज्ञानकाण्डं विस्तारयत्येव। विना खण्डनमण्डनाभ्यां शास्त्रमविसंवादि जायत एव न, परमेतत्कार्यमसिधाराव्रतमेवास्ते। खण्डनस्यापि कदाचित् खण्डनं कालचक्रक्रमेण सम्भाव्यते।

जगद्गुरुरामभद्राचार्यास्तुलसीपीठाधीश्वरा विकलाङ्गविश्वविद्यालयचित्रकूटकुलाधीशा भागवततत्त्वमर्मज्ञाः संस्कृतमहाकाव्यादिप्रणेतारः प्रामाणिकसुविद्वांस उत्तरकाण्डस्य प्रक्षिप्ततामुद्घोषयंस्तत्र श्रीभागवतानन्दगुरुमहोदयास्तन्मतखण्डयितारो ग्रन्थममुं संस्थापयन्ति संस्थापयन्तु नाम परमुभयमतमादरणीयमेव। यतो हि विवेचना गूढग्रन्थिभरा समुद्रवद्गम्भीरा परिवर्तनशीला भवत्येव। अत्र वेदपुराणस्मृतिसन्दर्भपुरस्सरं खण्डनं प्रक्षिप्ततार्थस्य

प्रतिपक्षं विहितं ततः परं ग्रन्थममुमुपलभ्य श्रीभागवतानन्दगुरुमतं निरीक्षिष्यन्ते तत्त्ववेत्तारो निश्चप्रचमेव। श्रीभागवतानन्दगुरुमतं श्लाघनीयं शास्त्रनिकषे तुलनया तथापि अनन्तता हि शास्त्रस्येति धिया प्रतीक्षापि विधेया। अल्पविद्यो महागर्वीति भणित्या कोपि सुविद्वान् सगर्वमकुशलपक्षन्नोपस्थापयितुमर्हति। अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रमिति धिया को नामात्र सडिण्डिमं स्वप्रकर्षं कीर्तयेदिति धिया कविकुलगुरुकालिदासाोपि रघूणामन्वयं वक्तुं मन्दः कवियशः प्रार्थीति निजमन्दकवित्वं विनयवृत्त्यैवोद्घोषयति, तस्मान्न कोपि व्याख्याता निजमतस्य चरमनिर्णायकत्वमुद्घोषयेत्। ग्रन्थस्यास्य प्रथमभागे तुलसीपीठाधीश्वरेण प्रत्याख्याता सीतानिर्वासनशम्बूकवधरजतप्रसङ्गादिघटना तत्रैव लेखकवर्येणात्र पद्मनारददेवीभागवतस्कन्दबृहद्धर्मादिपुराणाध्यात्मानन्दरामायणगर्गसंहितादीनां सन्दर्भैस्स्वमतं पर्यपोषि पूर्वपक्षश्च निराकारि। भारते सर्वत्रोत्तरकाण्डपर्यवसायि रामायणं तुलसीकृतरामचरितमानसं काव्यं पापठ्यमानं दृश्यते, यद्यपि रामलीलासु सीतानिर्वासनशम्बूकवधरजतप्रसङ्गादिघटना न प्रदर्श्यते रामपराभवमुद्दिश्य तथाप्युत्तरकाण्डं निविष्टं को हि निस्सारयितुमर्हति, किमत्र खण्डनमण्डनविधया।

विद्वद्विवेचकास्स्वमतोपन्यासे शास्त्रप्रामाण्यपुरस्सरं स्वातन्त्र्यमर्हन्ति परं वाग्वैदग्ध्यवशादेव, न च वैयक्तिकद्वेषमाश्रित्य शास्त्रे दण्डप्रहारादिना। न कश्चिच्छास्त्रहन्ता स्वाभीष्टायुक्तलक्ष्यसाधनेन वा जायताम्। सिद्धर्षिवाल्मीक्यादिकवयस्तु क्रान्तदर्शिनः प्रजापतिकल्पाःस्वयम्भुव एवमरा यथोक्तं नीतिशतके -

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।

नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥

श्रेष्ठविद्वांसो न बिभ्यति कस्मादपि लब्धाधिकारात्परं सुप्रतिष्ठिताः सुधियोपि न पराभवनीया द्वेषादिबुद्ध्या, कदापि शिष्टोक्तिसीमानं नातिक्रमेत कश्चित्। विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रममिति धिया परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्नोति कोपि वा मनीषी। मात्सर्यग्रस्तास्त्वभिनन्द्यन्त एवात्र न कदापि केपि वा पीठाधीश्वराश्चिन्तका वा मनागपि पद लोलुपाः। भवभूतेरुत्तररामचरितं सुप्रसिद्धनाटकमुत्तरकाण्डवृत्तं परिपुष्णात्येव तदपि चिरात्संस्कृतपाठ्यग्रन्थत्वेन पाठ्यते। यद्यपि वाल्मीकिरामायणे क्वचित्प्रक्षिप्तांशा अपि सम्मतास्तथाप्युत्तरकाण्डं को निस्सारयितुमर्हति साम्प्रतं प्रचलितसुदृढपरम्परां को नाम समापयितुं क्षमेत।

श्रीभागवतानन्दगुरुमतं हि द्वितीयभागे शतोत्तरैकादशतमे पृष्ठे — 'शास्त्र को समझने के लिये यह आवश्यक है कि आप अपना मस्तिष्क खाली रखकर उसे पढें, लोग पहले से धारणा बना लेते हैं और उन धारणाओं को शास्त्र में खोजते हैं और जब उन्हें मन के अनुकूल वाक्य नहीं मिलते हैं तो प्रतिकूल वाक्यों को प्रक्षिप्त कह देते हैं जब कि ऐसा नहीं होना चाहिए'। मैं लेखक के इस मत से असहमत हूँ, क्योंकि कोई भी सुचिन्तक विद्वान् रिक्त मस्तिष्क हो ही नहीं सकता, कालिदास ने मेघदूत में जैसा कि कहा है कि 'रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय' के अनुसार ऐसा चिन्तक लघु बन जाता है, कभी पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता। शास्त्र के साथ छेड़छाड़ करना कभी बडा महंगा पडता है इसीलिये सुविद्वान् को अनुपम तर्क तथा तीक्ष्ण मेधा से किसी भी शास्त्रीय समस्या के समाधान का प्रयास करना चाहिये। सुगवेषक तो शास्त्रानुकूल लेखनी चलाता है, न ही प्रतिकूलता के पीछे दौड लगाता है, क्योंकि विधि की प्रतिकूलता में समग्र साधन विफल हो जाते हैं। जैसा कि काव्याचार्य कहते हैं — प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहु साधनता। तृतीयचतुर्थभागयोर्ग्रन्थस्यास्य

'क्या नेत्रहीन या विकलांग व्यक्ति संन्यास के अधिकारी हैं ?'

अनया जिज्ञासया प्रारभ्यते, विकलाङ्गकृते सम्प्रति प्रयुज्यमानं दिव्याङ्गपदं व्यमर्शि साभिप्रायं लेखकेन। शास्त्रप्रामाण्येन विकलाङ्गा हि पीठाधीश्वरपदानर्हा इत्यपि समसाधि, सूरदाससदृशभक्तकवेरपि न पीठाधीश्वरत्वं यतित्वं वा प्रकृतविषये लेखकप्रदत्तशास्त्रीयसन्दर्भेषु विचारो नितरामपेक्ष्यते, तत्र संन्यासोपनिषत्कूर्मपुराणवैष्णवमताब्जभास्करादिसन्दर्भेण साकं रामाधारशर्मण आक्षेपा श्रीभागवतानन्दगुरुलेखकप्रत्युत्तराणि प्रादीयन्त।

पञ्चमभागे रामानन्द शर्मणां कृतं खण्डनं तदुत्तरे लेखकेन प्रदत्तप्रतिखण्डनमपि सूक्ष्मेक्षिकया निभालनीयमेव शास्त्रपारीणैः। षष्ठभागे नित्यानन्दमिश्रेण विहित खण्डनं व्यवेचि। सप्तमाष्टमनवमदशमभागेषु संन्यासाधिकारविमर्शः प्रत्यपादि, नित्यानन्दमिश्रो हि स्वामिरामभद्राचार्यमतपोषको श्रीभागवतानन्दमतखण्डयिता चेति। महाभारतादिसन्दर्भेण रामाधारकृता आक्षेपा लेखकेन व्यखण्ड्यन्त।

पुस्तकान्ते लेखकमतम् - 'देवता देश एवं ब्राह्मण से द्रोह करने वाले नेता एवं शास्त्रों को प्रक्षिप्त कहने वाले जगद्गुरु तो

गांव गांव में मिल जायेंगे, इन्हें अधिक महत्त्व न दें, व्यक्ति के पीछे नहीं शास्त्र के पीछे चलें', इस कथन के साथ ग्रन्थ की पूर्णता हो जाती है। इसमें भी मत्स्य, शिव, स्कन्द, भविष्य, पद्म, देवीभागवत, विष्णुधर्मोत्तर तथा श्रीमद्भागवत इत्यादि पुराणों के सन्दर्भ भी दिये गये हैं, इन सन्दर्भों पर निष्पक्ष विचार होना चाहिये लेखक के तर्क तथा युक्तियों की दृष्टि से। जगद्गुरु तो कोई तत्त्ववेत्ता भगवदुपासक ही हो सकता है चाहे गांव का हो या शहर का। सच्चा शास्त्राराधक कभी भी शास्त्र के साथ खिलवाड़ नहीं कर सकता। स्वामी रामभद्राचार्य तो सुप्रतिष्ठित ख्यातिप्राप्त विद्वान् हैं, जो विश्वविद्यालय के संस्थापक भी हैं। मैं उनसे काशी में अध्ययनकाल से ही परिचित हूं, मेरे व्याकरण शास्त्र के गुरु जौनपुरनिवासी पं शशिधर मिश्र से भी वे परिचित हैं क्योंकि मैंने व्याकरण की शिक्षा पण्डित प्रवर श्रीमिश्र जी से काशी में १९८०-८३ तक प्राप्त की है।

अभी इसी दशक में मऊरानीपुर, जि० झांसी में जब स्वामी जी श्रीमद्भागवतकथा प्रवचन कर रहे थे तभी मैं वहां संयोग से अपने गुरु तथा पितृव्यपाद संस्कृत मनीषी पं० यमुनाप्रसादशास्त्री जी के साथ वहां पहुंचा तो मैंने स्वामी जी का अभिनन्दन संस्कृत में किया था, तथा अभिनन्दनपत्रम् उन्हें समर्पित किया था, जिसके उत्तर में सद्यः स्वामी जी ने परिनिष्ठित संस्कृत में मुझे प्रवचनमञ्च से धन्यवाद दिया था, एवं तदीयसंस्कृतक्षमतया नितान्तम्मे मनः समतुष्यत् प्रवचने च प्रतिपदं व्याकरणव्युत्पत्तिमवेक्ष्य। काश्यामेकदा सम्पूर्णानन्द-संस्कृतविश्वविद्यालये स्वामिवर्यसमभिनन्दने विहितसंस्कृतकविसम्मेलने मदीयकवितया ते नितरां प्रामोदन्त। तस्माद्भारतीयसंस्कृतशास्त्रपुरोधसस्ते श्रीभागवतानन्दगुरुवर्यैरत्र प्रस्तुतविषयेऽवश्यमेव ससौहार्दं निजमतोपन्यासेन शास्त्रपरम्परां द्रढयिष्यन्तीति विनिवेदयन्नितरां विशेषशुभकामना श्रीभागवतानन्दगुरुवर्येभ्यो ग्रन्थ ममुमुद्दिश्य विशेषप्रणतयश्च जगद्गुरु स्वामिपादेभ्यो यदीयप्रस्तुतविषयमालक्ष्य ग्रन्थरत्नमिदं विदुषां पुरस्तात् समुपस्थाप्यते साभिप्रायं, समभिनन्दनीयावुभावपि विश्रुतविद्वांसौ मे।

न निश्चितार्थाद् विरमन्ति धीरा इति सविश्रम्भं वच्मि -

संन्यासरीतेरधिकारनीतिर्व्यमर्शि रामायणपोषकत्वम्।

प्रक्षिप्तता तस्य निराकृतात्र समीक्षणीया हि पुनः सुधीभिः॥

लेखकस्यात्र दृष्टिर्यथा वेद्यतां तच्श्रमो दृश्यतां स्वाद्यतां सोत्सहम्।

स्वामिनां तन्मतं पठ्यतामीक्ष्यतां युक्तितर्कादिभिश्चापि निर्णीयताम्॥

सत्यश्रमाभ्यां सकलार्थसिद्धिर्विद्वद्वरैः कैरपि लभ्यतान्नु।

चाटूक्तिभिर्नैव न राजनीत्या कृतिर्विलेख्या न च नेतृतुष्ट्यै॥

॥इति शम्॥

प्रो.धर्मदत्तचतुर्वेदी
संस्कृतविभागाध्यक्षः शब्दविद्यासङ्कायप्रमुखश्च

केन्द्रिय उच्चतिब्बतीशिक्षासंस्थानम् (माननितिविश्वविद्यालय) सारनाथ, वाराणसी

(१२)

विविध ग्रन्थों के प्रमाणों से परिपुष्ट और तर्कसंगत पद्धति से लिखा हुआ यह लेख श्रीभागवतानंद महाराज के शीर्ष पाण्डित्य का परिचायक है। लेख संग्रहणीय और मननीय है।

आपको हार्दिक धन्यवाद ...

शास्त्रार्थ पञ्चानन डॉ० प्रेमाचार्य शास्त्री जी

(१३)

संत ना छाडै संतई, कोटिक मिले असंत ।

चन्दन भुवंगा बैठिया, तौ सीतलता न तजंत ॥

वास्तविक संतों को निंदा और स्तुति में भी समत्व रखना चाहिए। इस जगत् में मेरे विषय पर कौन क्या कर रहा है, कौन क्या कह रहा है, इसमें संत को विशेष रुचि नहीं रखनी चाहिए। श्रीभागवतानंद गुरुजी के द्वारा लिखे गए लेख का मैंने पूर्ण पठन किया है। उन्होंने अपना जो भी पक्ष रखा है वह शास्त्रोक्त और सप्रमाण ही है।

उसमें ऐसा कहीं भी प्रतीत नहीं हुआ कि श्रीरामभद्राचार्य जी के प्रति दुर्वाक्य अथवा अपशब्दों का प्रयोग किया गया है, फिर भी श्रीरामभद्राचार्य जी अथवा उनके अनुयायियों को ऐसा आभास हुआ हो कि लेख के माध्यम से उनकी अवमानना की गयी है तो स्मरणीय है कि संत को सदैव शास्त्रोक्त नियमों के आधार से ही अपना पक्ष प्रतिपक्ष रखना चाहिये।

जितना परिश्रम करके श्रीभागवतानंद जी ने लेख लिखा है, विपक्षीगण उससे कई गुणा अधिक श्रीभागवतानंद जी के प्रतिपक्ष में लिखते अथवा मीडिया के माध्यम से, पत्रकारों के माध्यम से, अन्य विविध स्रोतों से उनके लेख का खंडन करते, प्रतिकार करते तो मैं अवश्य उनकी प्रशंसा करता किंतु विपक्षियों का जैसा व्यवहार संसार के समक्ष दिखाई पड़ रहा है, यदि यह सत्य है तो उचित नहीं हो रहा है।

श्री पं० कृपाशंकर शास्त्री जी
श्री वैदिकशक्ति संरक्षण चैरिटेबल ट्रस्ट

(१४)

जय श्रीमन्नारायण !

प्रस्तुत पुस्तक 'उत्तरकाण्ड प्रसङ्ग एवं संन्यासाधिकार विमर्श', हमारे परम प्रिय श्रीभागवतानंद गुरुजी के द्वारा लिखी गयी है जिसका हमने अवलोकन किया। बहुत ही सटीक प्रमाणों के द्वारा इन्होंने अपने मन्तव्य को रखा है, शास्त्रसम्मत बात इसमें की है। उत्तरकाण्ड को जो लोग प्रक्षिप्त कहते हैं, उन प्रक्षिप्तवादियों को एकबार इस पुस्तक को सम्पूर्णता से अवश्य पढना चाहिये।

श्रीरामानुज सम्प्रदाय का रहस्यग्रंथों में यह सिद्धान्त रहा है कि श्रीसीताजी का भगवान् से जो तीन बार वियोग हुआ है, वह आकारत्रय को प्रकट करने के लिये, आकारत्रय को समझाने के लिये ही हुआ है, इस कारण रामानुज सम्प्रदाय में तो उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त माना ही नहीं जाता, फिर भी जो आजकल के 'बुद्धिजीवी' उत्तरकाण्ड को शम्बूकवध के कारण, सीताजी के परित्याग के कारण प्रक्षिप्त बताते हैं, उनको एक बार इस पुस्तक का अवलोकन अवश्य ही करना चाहिये। यह पुस्तक बहुत ही सुन्दर है, संन्यासाधिकार पर लेखक ने बहुत ही प्रामाणिक लेखन किया है, इसके लिये मैं इनको बहुत बहुत शुभकामनाएं देता हूँ। पाठक स्वच्छ मन से इस पुस्तक का अध्ययन करके स्वविवेक से निर्णय लें।

जय श्रीमन्नारायण

श्री पुण्डरीकाक्षाचार्य वेदान्ती जी

(श्रीकृष्णपुत्र साम्ब आदि के द्वारा नकली गर्भवती के वेष में ऋषि महर्षियों से उपहास करके उनसे यदुवंश के विनाश का शाप प्राप्त करने के सन्दर्भ में(

कार्ष्णि शरणानन्द जी ये - (किसी स्थान पर व्याख्यान के मध्य)'साला, बेवकूफ' कृष्ण के 'ग्रैंड चिल्ड्रन' जाकर महात्मा साधुओं का अपमान कर रहे हैं। जिससे अपना घर नहीं सम्भलता वो दूसरों का क्या सम्भालेगा। इस 'बेवकूफ' की यही प्रतिज्ञा है न, परित्राणाय साधूनां यही साधुओं की रक्षा है कि इसके ...'ग्रैंड चिल्ड्रन' साधुओं का अपमान कर रहे हैं ?

श्रीमज्जगद्गुरु रामानुजाचार्य वासुदेवाचार्य 'विद्याभास्कर' जी ने इसीलिए तो आखिर भगवान् -'ग्रैंड चिल्ड्रन' को जनयिष्य"ति वो मन्दा मुसलङ्कुलनाशनम्के रूप में शाप दिलवाया और मधुमैरेयकपान के फलस्वरूप सब का सर्वनाश भी तो परस्पर " युद्ध द्वारा उसी शापवश मुशलचूर्णसमुद्भूत पटेरा घास के प्रहार से करवा दिया, फिर भी उन को अपशब्द कहना सठिया

जाने का ही तो प्रमाण है। परिपूर्ण मङ्गल हो। हमारे प्रखर शास्त्रचिन्तक निग्रहाचार्य जी इन की भी शास्त्रीय मर्यादा में रहते हुए धज्जियां उड़ा देंगे।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु । प्रतिदिन प्रतीत होता है कि धर्माधिकारियों की मुझपर कुछ विशेष कृपा होती ही जा रही है - व्यासपीठ से कोई मान्य वक्ता कुछ ऐसा बोल जाते हैं कि न चाहते हुए भी उनके कथन का 'पोस्टमार्टम' करने मुझे आना ही पड़ता है। सर्वप्रथम तो कार्ष्णि शरणानन्द महाराज आपको मैं जानता नहीं था !, जब तक कि आपने वेदविरुद्ध मतों का पोषण करने वाले पाखण्डाधिकारी दलाई लामा के चरणों का अभिषेक वैदिक मन्त्रों से नहीं करवा दिया था। उस दिन आपके विषय में प्रथम बार जाना और निराशा भी हुई। आपके नाम के पूर्व जो 'कार्ष्णि' शब्द प्रयुक्त है, उसके मूलभूत कृष्णशब्द का सामान्य अर्थ भी आपको ज्ञात है, ऐसा मुझे नहीं लगता। अस्तु, चिन्ता मास्तु। निग्रहोऽहं महीतले।

ककारः कमलाकान्त ऋकारो राम इत्यपि।
षकारः षड्गुणपतिः श्वेतद्वीपनिवासकृत्॥
णकारो नारसिंहोऽयमकारो ह्यक्षरोऽग्निभुक्।
विसर्गौ च तथा ह्येतौ नरनारायणावृषी॥
सम्प्रलीनाश्च षट् पूर्णा यस्मिञ्छुद्धे महात्मनि।
परिपूर्णतमे साक्षात्तेन कृष्णः प्रकीर्तितः॥
(गर्गसंहिता, गोलोकखण्ड, अध्याय (१५ -

'कृष्णः' शब्द में 'क्' का अर्थ है, कमला अर्थात् लक्ष्मीदेवी का स्वामी। 'ऋ' का अर्थ है सबों के चित्त को अपने में रमण कराने वाले राम। 'ष्' का अर्थ है श्वेतद्वीप में निवास करने वाले बल, तेज, ज्ञानादि षडैश्वर्य के अधिपति विष्णु। 'ण्' का अर्थ है, सभी नरसंज्ञक जीवों में सिंह के समान अग्रणी नरसिंह। 'अ' का अर्थ कभी नष्ट न होने वाला अक्षरपुरुष, जो अग्निभोजी है। कृष्ण शब्द में (सर्वयज्ञानां भोक्ता)प्राणसञ्चारक विसर्ग साक्षात् जीवात्मा एवं परमात्मारूपी नर एवं नारायण ऋषि हैं। जिस शुद्धस्वरूप महान् आत्मा में यह छः अर्थ पूर्ण रूप से लीन हैं (चेतन), उस परिपूर्णतम तत्त्व को 'कृष्ण' कहा जाता है।

श्रीधरस्वामी महाभारत के आश्रय से व्यक्त करते हैं -
कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्चनिर्वृतिवाचकः। कृष्णस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्वतः॥
कृषि शब्द से पृथ्वी का वाचन होता है और ण अक्षर निर्वृत्ति का वाचक है। इस प्रकार से सत्वगुण का विस्तार करने (जगत्) वाले विष्णु संसार से मुक्त करने के कारण कृष्ण कहलाते हैं। आकृष्ट करने से भी कृष्ण हैं कर्षणात्कृष्णः। स्वयं - - यों को बताते हैंभगवान् श्रीकृष्ण गोपि

न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु।
क्रीडार्थं सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण, स्कन्ध १० -, पूर्वार्द्ध, अध्याय ४६ -, श्लोक (३९ -

यद्यपि इस ब्रह्म का इस संसार में अच्छी (उनका), बुरी या मिश्र योनि में कोई कर्म नहीं है, (कर्मातीत हैफिर भी साधुओं (की रक्षा हेतु वह खिलवाड़ में ही यहाँ अवतरित होता है। यही कारण अन्य अवतारों के सन्दर्भ में भी है, यथा -

दानवानां विनाशाय दैत्यानां निधनाय च।
परित्राणाय साधूनां रामो जातः स्वयं हरिः॥

दानवों के विनाश, दैत्यों के संहार एवं साधुओं की रक्षा के लिए स्वयं श्रीहरि रामावतार लेकर आये। सर्वत्र अवतार का प्रधान उद्देश्य ही धर्म की रक्षा करना है।

वेधसा प्रार्थितो विष्णुः कमलापतिरीश्वरः।
भूभारोत्तारणार्थाय साधूनां रक्षणाय च॥
भगवन् भारते खण्डे देवैः सह जनार्दनः।
अवतारं गृहाणाशु वसुदेवगृहे विभो॥
(श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, स्कन्ध ०६ -, अध्याय ११ -, श्लोक (०४-०३ -

लक्ष्मीपति ईश्वर विष्णु ब्रह्माजी के द्वारा प्रार्थना किए जाने पर पृथ्वी के भार को हरण करने, साधुओं की रक्षा हेतु देवताओं के साथ वसुदेव के घर अवतरित हुए। गर्गाचार्य जी नन्दबाबा को स्पष्ट बताते हैं -

परिपूर्णतमः साक्षाच्छ्रीकृष्णो भगवान्स्वयम्।
असङ्ख्यब्रह्माण्डपतिः गोलोके धाम्नि राजते॥
सोऽयं तव शिशुर्जातो भारावतरणाय च।
कंसादीनां वधार्थाय भक्तानां रक्षणाय च॥
(गर्गसंहिता, गोलोकखण्ड, अध्याय १५ -, श्लोक (३६-३५ -

ये श्रीकृष्ण साक्षात् परिपूर्णतम भगवान् हैं, जो अगणित ब्रह्माण्डों के स्वामी, गोलोक में विराजित रहते हैं। वही पृथ्वी के भार को दूर करने, कंस आदि के वध एवं भक्तों की रक्षा हेतु तुम्हारे बालक के रूप में आये हैं।

क्या ऐसे परब्रह्म के प्रति 'साला', 'बेवकूफ', 'क्या साधुओं का सम्मान करेगा', जैसे कुभाव श्रीधाम वृन्दावन के सुप्रसिद्ध वैष्णव सन्त को शोभा देते हैं ? भगवान् स्वयं कहते हैं कि अर्जुन मेरा जन्म और कर्म दिव्य है !, ऐसा तत्त्वतः जानना चाहिए जन्म कर्म च मे द -िव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। ऐसे निष्कल ब्रह्मतत्त्व के प्रति सामान्य गुणाध्यास करने वाला मेरी दृष्टि से सर्वथा अल्पज्ञ है। और ये मैं नहीं कह रहा, यह शास्त्र कहते हैं -

भक्तानुकम्पी भगवान् साधूनां रक्षणाय च।
आविर्भवति लोकेषु गुणीवाज्ञैः प्रतीयते॥
(गरुडपुराण, प्रेतकाण्ड, अध्याय (०६ -

भक्तों पर कृपा करने वाले भगवान् साधुओं की रक्षा हेतु संसार में अवतार लेते हैं तो मूर्खजन उन्हें सामान्य गुणों के बन्धन में फंसा समझ लेते हैं। जबकि राजा मुचकुन्द के प्रति अपना परिचय भगवान् ने स्पष्ट दिया है -

भूमेर्भारायमाणानामसुराणां क्षयाय च।
अवतीर्णो यदुकुले गृह आनकदुन्दुभेः॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण, स्कन्ध १० -, उत्तरार्द्ध, अध्याय (५१ -

पृथ्वी के भारभूत राक्षसों के विनाश हेतु मैं यदुकुल में आनकदुन्दुभि के घर अवतरित हुआ हूँ। (वसुदेव)

हो सकता है कि वृन्दावन में दीर्घकाल तक निवास करके 'सख्य' भाव से श्रीकृष्णोपासना करते हुए शरणानन्दजी इतने वरिष्ठ सन्त हो गये हों कि श्रीकृष्ण से तद्रूप होकर मित्रतावश उनके प्रति ऐसे शब्दों का प्रयोग कर देते हों, किन्तु उस स्थिति को प्राप्त सन्तजनों के लिए भी निर्देश है कि वह स्थिति और भाव मात्र अपने और इष्ट के मध्य ही एकान्त में रखना चाहिए, न कि सार्वजनिक व्यासपीठ पर। लोकव्यवहार में तत्त्वदर्शी जनों को भी सामान्य मर्यादा के अनुसार ही व्यवहार करना चाहिए अन्यथा जनसामान्य भ्रमित होता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गोपियों को स्पष्ट कहा है -

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।

जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥
(गर्गसंहिता, माधुर्यखण्ड, अध्याय ०१ -, श्लोक (४७ -

हे गोपियों सकामबुद्धि वाले सामान्य अज्ञानी जनों के मध्य ब्रह्मीभूत निष्कामता का प्रदर्शन करके उन्हें भ्रमित न करे !, अपितु सामान्य व्यवहार से सर्वोपयोगी कर्म में ही विधिपूर्वक उन्हें लगाए। यही बात बाद में भगवान् ने अर्जुन के प्रति भी कही है।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥
(श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ०३ -, श्लोक (२६ -

इस सिद्धान्त पर स्वामी मधुसूदन सरस्वती जी कहते हैं -

अनधिकारिणामुपदेशेन बुद्धिविचालने कृते कर्मसु श्रद्धानिवृत्तेर्ज्ञानस्य चानुत्पत्तेरुभयभ्रष्टत्वं स्यात्। तथा चोक्तं अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्। महानिरयजालेषु स तेन विनियोजितः॥

जो लोग अधिकारी नहीं हैं, उन्हें उपदेश करके उनकी बुद्धि को भ्रमित न करे। ऐसा करने से कर्म में उनकी निवृत्ति हो जाएगी किन्तु ज्ञान का अभाव बना रहेगा, फलतः वे भ्रष्ट हो जायेंगे। जो मूर्ख है, अथवा आधाअधूरा जानता है-, उसको यह कहने से 'सब ब्रह्म है', वह अज्ञानी नरक में ही धकेल दिया जाता है।

ब्रह्मज्ञानबुद्धि से हीन अकृतकृत्य मुमुक्षु कर्मयोगियों को कर्मयोग से हटाकर आत्मावलोकन के ज्ञानमार्ग में लगाना उचित नहीं, एतदर्थ भगवान् श्रीरामानुजाचार्य जी अनुग्रह करते हैं -

अज्ञानामात्मन्यकृत्स्नवित्तया ज्ञानयोगोपादानाशक्तानां मुमुक्षूणां कर्मसङ्गिनामनादिकर्मवासनया कर्मणि एव नियतत्वेन कर्मयोगाधिकारिणां कर्मयोगादन्यथात्मावलोकनमस्ति इति न बुद्धिभेदं जनयेत्।

तो फिर ब्रह्मज्ञान या अपने इष्ट से सख्य, दास्य आदि भावों से अनन्यता का बोध किसे कराएं ? भगवान् सङ्कर्षण समझाते हैं -

एवं ज्ञात्वा तु पात्राणां भक्तानां भावितात्मनाम्।
जनयेद्बुद्धिभेदं तु नेतरेषां कदाचन॥
(सात्वत संहिता, अध्याय ०७ -, श्लोक (१०३ -

इन सब बातों को समझकर, जो उचित पात्र हैं, भक्त हैं, जिनका अन्तःकरण विशुद्ध है, उनमें ही इस प्रकार की ब्रह्मजगन्भेदवती बुद्धि को उत्पन्न करे, अन्य सामान्य जनों में नहीं।

राजा नृग के प्रसङ्ग में 'धर्मरूपी आत्मा वाले', 'ब्रह्मण्यदेव' भगवान् श्रीकृष्ण अपने परिजनों तथा अनुवर्ती जनों को क्या शिक्षा देते हैं ?

कृष्णः परिजनं प्राह भगवान्देवकीसुतः।
ब्रह्मण्यदेवो धर्मात्मा राजन्याननुशिक्षयन्॥
दुर्जरं बत ब्रह्मस्वं भुक्तमग्नेर्मनागपि।
तेजीयसोऽपि किमुत राज्ञामीश्वरमानिनाम्॥
नाहं हालाहलं मन्ये विषं यस्य प्रतिक्रिया।

ब्रह्मस्वं हि विषं प्रोक्तं नास्य प्रतिविधिर्भुवि॥
हिनस्ति विषमत्तारं वह्निरद्भिः प्रशाम्यति।
कुलं समूलं दहति ब्रह्मस्वारणिपावकः॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण, स्कन्ध १० -, उत्तरार्द्ध, अध्याय ६४ -, श्लोक (३४-३१ -

हे बन्धुओं जैसे अल्प अग्नि भी दाहिकाशक्ति से युक्त होने के कारण विनाशकारी होता है !, ऐसे स्वयं को समर्थ मानने वाले बड़े बड़े राजाओं के लिए भी ब्राह्मण का थोड़ा धन भी विनाशकारी होता है। मैं संहारक हलाहल विष को भी (कालकूट) विष नहीं मानता, विष तो ब्राह्मण का धन ही है, जिसकी कोई चिकित्सा नहीं। भौतिक विष तो केवल खाने वाले को ही मारता है, आग लगने पर जल से उसे बुझा सकते हैं, किन्तु ब्राह्मण के अपहृत धन से जो कर्माग्नि निकलती है, वह पूरे कुल को समूल जला देती है।

भला जो श्रीकृष्ण अपने परिजनों को सामने बैठाकर सोदाहरण ऐसे उपदेश देते हों, उनपर यह आरोप लगाना कि इस 'साले बेवकूफ' के ग्रैंड चिल्ड्रन साधुओं का अपमान कर रहे हैं, कितना निन्दनीय है।

विपाकैः कर्मणां क्लेशैरस्पृष्टवपुषे नमः।
नमो ब्रह्मण्यदेवाय तेजसां निधये नमः॥
(भार्गवतन्त्र, अध्याय ०१ -, श्लोक (३७ -

जो भगवान् स्वयं शुभाशुभ कर्मविपाक से सर्वथा परे हैं, अविद्यादि क्लेशों से स्वभावतः अस्पृष्ट हैं, फिर भी वे ब्राह्मणों को अपने से श्रेष्ठ मानकर उनकी बहुमान करते हैं, यह उनका अतुल्य औदार्य है।

महाभारत के अनुशासनपर्व में कहते हैं -

निग्रहेण च पापानां साधूनां प्रग्रहेण च।
इदं तपस्विनी सत्या धारयिष्यति मेदिनी॥

पापियों के निग्रह के कारण ही पृथ्वी जीवन को धारण (प्रगतिशील पोषण) एवं साधुओं के प्रग्रह (दमनपूर्वक नियन्त्रण) करती है। भगवान् विष्णु के सहस्रनाम में उनके नाम प्रग्रह और निग्रह भी हैं। यदि ऐसा न हो तब? उस स्थिति में ...

यदा यदा त्वधर्मस्य वृद्धिर्भवति भो द्विजाः।
धर्मश्च ह्रासमभ्यैति तदा देवो जनार्दनः॥
अवतारं करोत्यत्र द्विधा कृत्वात्मनस्तनुम्।
साधूनां रक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च॥
दुष्टानां निग्रहार्थाय अन्येषाञ्च सुरद्विषाम्।
प्रजानां रक्षणार्थाय जायतेऽसौ युगे युगे॥
(ब्रह्मपुराण, अध्याय १८१ -, श्लोक (०४-०२ -

हे द्विजातियों जब जब अधर्म की वृद्धि और धर्म की हानि होती है !, तब तब भगवान् जनार्दन अपने दो स्वरूप (अंशांशी) से साधुओं की रक्षा, धर्म की संस्थापना, दुष्ट तथा दैत्यों के निग्रह तथा प्रजाओं की रक्षा हेतु युगअवतरित होते हैं। युग में-

महात्मा कौन है ? जिसका जीवन साधुओं के पालन में, दुष्टों के संहार में और देवताके निमित्त (की सेवा) ब्राह्मण आदि- लगा हो, वह महात्मा है।

साधूनां पालनार्थाय दुष्टसंहरणाय च।

सुरविप्रकृते जन्म जीवितञ्च महात्मनाम्॥
(स्कन्दपुराण, माहेश्वररिकाखण्डकौमा-, अध्याय (३२ -

जब महात्मा ऐसे होते हैं, तो परमात्मा कैसे होते होंगे ? साधुओं का काम क्या है ? स्कन्दपुराण में कहते हैं

परोपकरणं नाम साधूनां व्रतमाहितम्॥

परोपकार करना ही साधुओं का व्रत है। अब दूसरों का उपकार तो साधु करेगा, साधु का उपकार कौन करेगा ? आगे रेवाखण्ड में मुक्त उद्घोष है साधूनां चोपकाराय वासुदेवः प्रतिष्ठितः॥ -

साधुओं के उपकार हेतु भगवान् वासुदेव प्रतिष्ठित हैं। ऐसे श्रीकृष्ण के प्रति साधुद्रोह का आरोप एक साधुवेशधारी व्यक्तित्व के द्वारा व्याख्यान के मध्य लगाना सर्वथा आपत्तिजनक है। साधुओं के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए ?

साधूनां समदृष्टीनां परिप्रश्नेन सेवया।
सङ्गमेन च सा युक्तिर्लभ्यते मुच्यते यया॥
(योगवासिष्ठ महारामायण, निर्वाणप्रकरण, पूर्वार्द्ध, सर्ग ८७ -, श्लोक (३३ -

सबों के ऊपर समदृष्टि रखने वाले साधुजन मिल जाएं तो उनकी सेवा करो। आत्मकल्याण के सन्दर्भ में बार बार प्रश्न करो। उनकी संगति करो क्योंकि सत्संगति से ही वह उपाय मिलेगा जो तुम्हें मुक्त करेगा। साधुसन्त ऐसे ही नहीं मिल जाते। - बहुत बड़ा भाग्य उदित होता है, तब कहीं साधुओं की संगति मिलती है। पद्मपुराण के स्वर्गखण्ड में कहते हैं महाभाग्योदये - विप्र साधूनां सङ्गतिर्भवेत्।

और यदुवंशी कुमारों ने क्या किया ? सेवा की, निःश्रेयस की जिज्ञासा की, सत्संग किया ? नहीं। उन्होंने छलपूर्वक उपहास किया। फलतः वंशनाश का शाप मिला। शाप की बात भगवान् श्रीकृष्ण भी जानते थे। उन्होंने क्या अपने दिव्य प्रभाव से उसे निरस्त किया ? नहीं।

श्रुत्वा दुर्वाससः शापं ते च सर्वे कुमारकाः।
शापेन सन्तप्तधियो मामूचुर्भयसंयुताः॥
ततस्तानागतान्दृष्ट्वा कुमारान् पृष्टवानहम्।
ते च मामब्रुवन्सर्वे यथावृत्तं समुत्सुकाः॥
तच्च तेषां वचः श्रुत्वा प्रोक्तवानस्मि तच्छृणु।
भविष्यति न सन्देहो दुर्वासा यदुवाच ह॥
(वराहपुराण, अध्याय १४९ -, श्लोक (२२-२० -

भगवान् कहते हैं -'दुर्वासा के शाप को सुनकर सभी राजकुमार भयभीत होकर मेरे पास आये और सारी बात कही। उनकी बात को सुनकर मैंने उत्तर दिया कि दुर्वासा ने जो कहा है, वह अवश्य होगा, इसमें सन्देह नहीं है।'

साधु सन्त के प्रति अपराध को यदि भगवान् प्रोत्साहन देते तो अवतार ही क्यों लेते ? राक्षसों के द्वारा भरपूर अपराध किया ही जा रहा था। और ऐसा ही अपराध जब अपने पुत्रपौत्रों ने किया तो भगवान् ने उनकी कोई रक्षा नहीं की।-

भगवान्ज्ञातसर्वार्थ ईश्वरोऽपि तदन्यथा।
कर्तुं नैच्छद्विप्रशापं कालरूप्यन्वमोदत॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण, स्कन्ध ११ -, अध्याय ०१ -, श्लोक (२४ -

सब जानकर भी, शाप के निवारण में समर्थ होकर भी ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने उस मृत्युरूपी शाप का अनुमोदन ही किया। अतः कार्ष्णि शरणानन्दजी का यह कथन कि 'साला बेवकूफ' कृष्ण साधुओं के रक्षा की प्रतिज्ञा करता है और अपने घर के बाल बच्चे नहीं सम्भलते, यह सर्वथा निन्दनीय तथा धर्मशास्त्रों के आलोक में अप्रामाणिक कथन है।

प्रश्नकर्ता रवीन्द्र कुमार मिश्र तीत हुए पांच हज़ार वर्ष से कुछ अधिक प्रायः यह कहा जाता है कि श्रीकृष्ण जन्म को व्य - वर्ष हुए हैं; यह कथन इस अवधारणा पर आधारित है कि श्रीकृष्ण का प्राकट्यअवतरण वर्तमान कलियुग से ठीक पूर्व के / अवतार प्रत्येक कल्प में एक बार कहा गया है (और श्रीराम का भी) द्वापरयुग में हुआ था जबकि श्रीकृष्ण का, न कि प्रत्येक चतुर्युगी में और न ही प्रत्येक मन्वन्तर में ।(कल्पभेद हरि चरित सुहाए) अतः ऐतिहासिक दृष्टिकोण से श्रीकृष्ण जन्म वर्तमान कलियुग के पूर्व के द्वापरयुग में ही होना कहां तक प्रमाणित कहा जा सकता है? यही प्रश्न श्रीराम के जन्मप्राकट्य / चतुर्युगी में प्रभु का अवतार हुआ था/होता है।किस किस कल्प के किस मन्वन्तर के विषय में भी उत्पन्नइसकी ठीक ठीक जानकारी किस प्रकार उपलब्ध हो सकती है ?

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु ऐतिहासिक शास्त्रीय दृष्टि से श्रीकृष्ण भगवान् का अवतार लगभग पांच हज़ार ढाई सौ वर्ष - ईसवें द्वापर में हुआ है। श्रीरामावतार केवल सारस्वत कल्प के समय अट्ठाईसपूर्व ही गत अट्ठावें त्रेता में हुआ था, बाकी समय, इस कल्प में भी, चौबीसवें त्रेता में हुआ है। अट्ठाईसवें त्रेता का प्रमाण श्रीमद्देवीभागवत महापुराण में प्राप्त होता है। सातवें मन्वन्तर के चौबीसवें त्रेतायुग में श्रीरामावतार के कुछ प्रमाण निम्न हैं -

त्रेतायुगे चतुर्विंशे रावणस्तपसः क्षयात्।
रामं दाशरथिं प्राप्य सगणः क्षयमीयिवान्॥
(ब्रह्माण्ड पुराण, मध्यभाग, अध्याय ०८ -, श्लोक एवं वायुपुराण ५४ -, उत्तरार्द्ध, अध्याय ०९ -, श्लोक (४८ -

चतुर्विंशे युगे रामो वसिष्ठेन पुरोधसा।
सप्तमो रावणस्यार्थे जज्ञे दशरथात्मजः॥
(मत्स्यपुराण, अध्याय ४७ -, श्लोक एवं वायुपुराण २४४ -, उत्तरार्द्ध, अध्याय ३६ -, श्लोक (९१ -

सप्तमस्य चतुर्विंशे राजंस्त्रेतायुगे तदा।
यदा रामेण समरे सगणो रावणो हतः॥
(विष्णुधर्मोत्तर पुराण, प्रथम खण्ड, अध्याय ८१ -, श्लोक (२४ -

चतुर्विंशे युगे वाऽपि विश्वामित्रपुरस्सरः।
जज्ञेराज्ञो दशरथस्याथ पुत्रः पद्मायतेक्षणः॥/
(ब्रह्मपुराण, अध्याय २१३ -, श्लोक एवं हरिवंशपुराण १२४ -, हरिवंशपर्व, अध्याय ४१ -, श्लोक (१२१ -

त्रेतायुगे चतुर्विंशे रावणस्तपसः क्षयात्।
रामं दाशरथिं प्राप्य सगणः क्षयमेयिवान्॥
(स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड, प्रभासक्षेत्र माहात्म्य, अध्याय २० -, श्लोक (३१ -

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

प्रश्नकर्ता पदेश कैसे कर पांच वर्ष के यज्ञोपवीत रहित बालक ध्रुव को नारद जी ने प्रणव के साथ द्वादशाक्षर मन्त्र का उ - दिया?

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु उपनयन संस्कार की आवश्यकता दोषापनयनपूर्वक श्रुतिकर्म में - अधिकृत होकर मोक्षमार्ग की ओर प्रवृत्त होने हेतु है। भगवती भक्ति देवर्षि नारद की स्तुति में कहती हैं (यंध्रुवोऽ) ध्रुवपदमुपयातो यत्कृपातो ध्रुवो वै - ब्रह्मपुत्रं नतास्मि। (सकलकुशलपात्रं) तमहमरणभूतं

नारदजी की कृपा से ही ध्रुव को ध्रुवपद मिला क्योंकि गुरु वही थे। इसमें यह ध्यातव्य है कि देवर्षि नारद ब्रह्मपुत्र हैं। ब्रह्माजी के पुत्र, भगवान् विष्णु के अवतार होने से उनमें यह विशिष्ट क्षमता है कि वह अपनी कृपापूर्ण दृष्टि से शक्तिपात करके ध्रुव को तत्काल संस्कृत बनाकर प्रणव का अधिकारी बना दें। दूसरे वंश परम्परा से भी, नारद मुनि स्वायम्भुव मनु के भाई हैं और मनु महाराज ध्रुव के दादाजी। तो यज्ञोपवीत या तो गुरु प्रदान करता है अथवा पिता पितामह। तो पितामह के- भाई होने से भी और समर्थ ब्रह्मज्ञानी होने से भी देवर्षि नारद ध्रुव को तत्काल ही द्विजत्व की सिद्धि कराने मेंसर्वथा अधिकृत थे, ऐसा मैं समझता हूँ। यद्यपि सामान्य जनों के लिए यह विधि नहीं है। भगवान् शिव देवी पार्वती को कहते हैं -

द्विजातीनां सहोङ्कारसहितो द्वादशाक्षरः।
स्त्रीशूद्राणां नमस्कारपूर्वकः समुदाहृतः॥
प्रकृतीनां रामनाम सम्मतो वा षडक्षरः।
सोऽपि प्रणवहीनः स्यात्पुराणस्मृतिनिर्णयः॥
प्रणवस्याधिकारो न तवास्ति वरवर्णिनि।
नमो भगवते वासुदेवायेति जपः सदा॥
(स्कन्दपुराण, नागरखण्ड, अध्याय २५७ के अंश(

हे श्रेष्ठ देवि जो द्विजाति हैं !, उनको ओङ्कार के साथ द्वादशाक्षर मन्त्र जपना है और स्त्री तथा शूद्र हेतु (... ॐ नमो) मात्र नमस्कारपूर्वक बताया (रां रामाय नमः) । शेष सामान्य जनों हेतु छः अक्षरों वाला रामनाम का मन्त्र(... नमो भगवते) गया है, वह भी बिना ओङ्कार लगाए, यही पुराणों एवं स्मृतियों का निर्णय है। तुम्हारा प्रणव में अधिकार नहीं है अतः केवल नमो भगवते वासुदेवाय का ही जप करो।

ध्यातव्य है कि यद्यपि देवी पार्वती प्रणवस्वरूपिणी ब्रह्मभूता हैं किन्तु फिर भी लोकमर्यादा के उपदेश हेतु व्यवहार में उन्होंने प्रणवहीन द्वादशाक्षर का ही जप किया है। अब रही ध्रुव महाराज की बात तो अलग अलग कल्पों की घटना में उन्हें अलग अलग माध्यम से यह मन्त्र मिला है। कभी नारद मुनि से, कभी विश्वामित्र से तो कभी सप्तर्षियों से। उनके गुरुओं ने कहा -

तिष्ठता गच्छता वापि स्वपता जाग्रता तथा।
शयानेनोपविष्टेन जप्यो नारायणः सदा॥
द्वादशाक्षरमन्त्रेण वासुदेवात्मकेन च।
ध्यायंश्चतुर्भुजं विष्णुं जप्त्वा सिद्धिं न को गतः॥
(स्कन्दपुराण, काशीखण्ड, अध्याय १९ -, श्लोक (१८-१७ -

खड़े रहते, चलते हुए, सोते या जागते हुए, लेटे या बैठे हुए भी नारायण का सदैव जप करना चाहिए। वासुदेवसम्बन्धी द्वादशाक्षरमन्त्र के जप और चतुर्भुज विष्णु का जप करके कौन सिद्धि को प्राप्त नहीं हुआ है ?

तपसाराध्य देवेशं पुरा लब्धं हि शङ्करात्।
वासुदेवेति यो नित्यं प्रणवेन समन्वितम्॥
नमस्कारसमायुक्तं भगवच्छब्दसंयुतम्।
जपेदेवं हि यो विद्वान्ध्रुवं स्थानं प्रपद्यते॥
(लिङ्गपुराण, पूर्वभाग, अध्याय ६२, श्लोक (३८-३७ -

यह मन्त्र पूर्वकाल में भगवान् शिव की तपस्या करके उनसे प्राप्त किया गया था। जो सदैव (अपने अधिकार के अनुसार) प्रणव, नमः, भगवान्, वासुदेव आदि शब्दों से युक्त इस मन्त्र का जप करता है, वह विद्वान् अचल ध्रुवपद को प्राप्त करता है।

हिरण्यगर्भपुरुषप्रधानाव्यक्तरूपिणे।
ओं नमो वासुदेवाय शुद्धज्ञानस्वरूपिणे॥
(विष्णुपुराण, प्रथम अंश, अध्याय (११ -

जो प्रकाशवान् हैं, क्षर एवं अक्षर पुरुषों में प्रधान पुरुष हैं (पुरुषोत्तम), अव्यक्तरूपी हैं, ऐसे शुद्धज्ञान के स्वरूप वाले वासुदेव के लिए नमस्कार है। द्वादशाक्षर मन्त्र की यही व्याख्या निग्रह सम्प्रदाय के अव्यक्ताद)्वैत सिद्धान्त में भी ग्रहण की जाती है(

अगले अध्याय में ऋषिगण कहते हैं -
स्वयं शुश्रूषणाद्धर्म्यान्मातापित्रोश्च वै तथा ।
द्वादशाक्षरमाहात्म्यात्तपसश्च प्रभावतः॥

(ध्रुव को यह जो सिद्धि हुईपिता की धर्मपूर्वक सेवा-वह माता (, द्वादशाक्षर मन्त्र के माहात्म्य एवं तपस्या के प्रभाव के कारण है।

श्रीमद्भागवत के अनुसार तो ध्रुव जी ने छः महीने के भीतर ही भगवान् का दर्शन कर लिया था किन्तु अन्य जन्मों के आश्रय से उनकी और अधिक विस्तृत तपश्चर्या का वर्णन अग्निपुराण, ब्रह्माण्डपुराण आदि में मिलता है।

सुनीत्यान्तु ध्रुवः पुत्रस्तपस्तेपे स कीर्तये।
ध्रुवो वर्षसहस्राणि त्रीणि दिव्यानि हे मुने॥
(अग्निपुराण, अध्याय १८ -, श्लोक (०३ -

सुनीति के पुत्र ध्रुव ने कीर्ति हेतु तीन सहस्र दिव्य वर्षों तक तपस्या की थी। मानवीय वर्षों के ३६०एक दिव्य वर्ष का मान) (बराबर होता है

कुछ ग्रन्थ यह कहते हैं कि उन्होंने ब्रह्मदेव की आराधना से यह ध्रुवपद प्राप्त किया। इसमें संशय नहीं करना चाहिए क्योंकि अत्रि, मार्कण्डेय आदि मुनियों को भगवान् नारायण और महादेव ने त्रिदेवों के मध्य तात्त्विक एकता का बोध कराया है।

ध्रुवो वर्षसहस्राणि त्रीणि कृत्वा तपः पुरा।
दिव्यमाप ततः स्थानमचलं ब्रह्मणो वरात्॥
(मत्स्यपुराण, अध्याय (०४ -

ध्रुवो वर्षसहस्राणि त्रीणि दिव्यानि भो द्विजाः।

तपस्तेपे महाभागः प्रार्थयन् सुमहद्यशः॥
तस्मै ब्रह्मा ददौ प्रीतः स्थानमात्मसमं प्रभुः।
अचलं चैव पुरतः सप्तर्षीणां प्रजापतिः॥
(ब्रह्मपुराण, अध्याय तथा कुछ पाठभेद के साथ शिवपुराण ०२ -, उमासंहिता, अध्याय एवं हरिवंशपुराण ३० -, हरिवंशपर्व, अध्याय (०२ -

ब्रह्मरूप में त्रिदेवों का एकीकरण हो जाता है। कालिकापुराण में प्रमाण है कि कैसे एक ही शरीर से त्रिदेव नीचे, मध्य और ऊपर के भागों के विभाजन से तीन प्रकार के हो जाते हैं, कैसे ब्रह्मा से विष्णु और शिव निकलते और लीन होते हैं, कैसे विष्णु से ब्रह्मा एवं शिव, तथा कैसे शिव से ब्रह्मा एवं विष्णु निकलते और लीन होते हैं एवं इस प्रकार से एक होकर भी तीन रूप से भासित होते हैं।

तत्रैव च त्रिधाभूतं वपुर्ब्राह्म्यं ददर्श सः।
ऊर्द्ध्वमध्यान्तमार्गैस्तु ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकान्॥
अथोर्द्ध्वभागो वपुषो ब्रह्मत्वमगमत्तथा।
मध्यो यथा विष्णुभूतां ददर्शान्तस्य शम्भुताम्॥
एकमेव शरीरन्तु त्रिधाभूतं मुहुर्मुहुः।
हरो ददर्श स्वे गर्भे तथा सर्वमिदं जगत्॥
कदाचिद्वैष्णवं कायं ब्राह्म्ये काये लयं व्रजेत्।
ब्राह्म्यं तथा वैष्णवे च शाम्भवे वैष्णवं तथा॥
शाम्भवं वैष्णवे काये ब्राह्म्ये चाप्यथ शाम्भवम्।
गच्छन्तं लीनतां शम्भुरेकताञ्च मुहुर्मुहुः॥
ददर्श वामदेवोऽपि भिन्नं चाप्यपृथग्गतम्।
परमात्मनि गच्छन्तं लीनतां तद्वपुश्च यत्॥
(कालिकापुराण(

इस प्रकार कल्पभेद से तथा एकात्मकता के भाव से भी उपर्युक्त बातों की संगति समझी जा सकती है।

प्रश्नकर्ता अंकित शर्मा इक्ष्वाकु - ज जी के दश पुत्र हुएश्राद्धदेव मनु महारा -, नृग इत्यादि। तो नृगोपाख्यान में नृग अपने आप को इक्ष्वाकु के बेटे क्यों बता रहे हैं ? नृगो नाम नरेन्द्रोऽहमिक्ष्वाकुतनयः प्रभो। समाधान करें प्रभु जी !

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु र करने वाला होता है। तनोति विस्तारयति संस्कृत में तनय का अर्थ कुल का विस्ता - कुलमिति तनयः। पुत्र भी कुल का विस्तार करता है और भाई भी। छोटे भाई कोपुत्र के समान एवं बड़े भाई को पिता के समान बताने का उल्लेख भी शास्त्रों में मिलता है। दूसरी बात, ज्येष्ठाधिकार से इक्ष्वाकु ही प्रधान राजा बने और प्रत्येक राजा के लिए उसकी शेष प्रजा सन्तान के समान होती है, यह भी नीतिवाक्य है। अतः नृग ने यहाँ स्वयं को इक्ष्वाकुतनय कहकर बताया है कि मैं इक्ष्वाकु के अधीन रहने वाला उनके कुल का विस्तारक देह) हूँ। यहाँ तनय का अर्थ मात्र पुत्र (भाई) क्त है। शिवपुराण की उमासंहिता में उन्हें मनु का ही पुत्र बताया है। नृगो यो मनुपुत्रस्तु लगाना अयु (से उत्पन्न सन्तान महादाता विशेषतः ।

प्रश्नकर्ता शिवाशीष दाश प्रणाम महाराज -, कल रात्रि को यह विष्णुपुराण, प्रथम अंश, बीसवां अध्याय पढ़ रहा था, जिसमें विचित्र विरोधाभास प्रतीत हो रहा है, हिरण्यकशिपु ने अपने पूर्व कुकृत्यों के प्रह्लाद जी से क्षमा मांगी, फिर यह भी लिखा है कि कालान्तर में श्रीनृसिंह भगवान के द्वारा उसका वध हुआ। ये दोनो बातें अति विचित्र एवं परस्पर विरोधी लग रहे हैं। यदि आपका मुझ पर अनुग्रह हो तो कृपया मेरी इस शंका का समाधान कर दें। मैं न जाने कल्पभेद, प्रक्षिप्त क्या क्या

अनुमान लगा रहा हूँ।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु अ -पने मस्तिष्क में समझ न आने वाली बात को प्रक्षिप्त कह देना सारस्वत अपराध है। हम सामान्य से फोन, वाहन या पंखे के बिगड़ने पर जब उसकी स्थिति समझ नहीं पाते तो क्या उसके अस्तित्व को नकार देते हैं ? नहीं, अपितु विशेषज्ञ के पास जाते हैं। किन्तु हम चाहते हैं कि खरीद कर सीधे ग्रन्थ पढ़ लें और सब समझ जाएं और न समझें तो विषय को प्रक्षिप्त कह दें। हिरण्यकशिपु के व्यवहार में परिवर्तन का कारण यह है कि जितने भी असुर हुए, वे सब पहले धर्मपूर्वक आचरण करके तपस्या करके ही शक्तिशाली बने। तो बीजरूप में कहीं न कहीं धर्म और सदाचार तो था ही। उसी का दौरा पड़ता था इन लोगों को।

असुरों में क्षणिक रूप से कभी कभी सत्संगति के कारण सद्बुद्धि भी आ जाती थी। जैसे कंस बीच में देवकी वसुदेव से क्षमा भी मांगता है और अगले दिन बच्चों को मारने का आदेश भी देता है। विष देने वाला, आग लगाने वाला आततायी दुर्योधन भी भरी सभा में साध्वी द्रौपदी का मानभंग करने के कुछ वर्ष बाद ही वैष्णव यज्ञ करने लगता है अपरिपक्व बुद्धि ही अधर्म में जाती है। अस्थिर व्यक्तित्व आसुरी सम्पदा का लक्षण है, अतः यहाँ ऐसा ही समझना चाहिए। आज के हिन्दू समाज को शास्त्रों की बातों पर विश्वास करना कठिन लगता है जबकि यह बिल्कुल कठिन नहीं है। तीन सौ साल पहले आप उत्पन्न हुए होते तो आकाश में उड़ने वाले विमानों के विषय में भी विश्वास करना कठिन होता। सौ वर्ष पहले वीडियो कॉल एवं एटीएम कार्ड पर विश्वास करना आपके लिए कठिन होता। ऐसे ही आपको आज शास्त्रवाक्य पर विश्वास करना कठिन लग रहा है, उन घटनाओं तथा व्यक्तियों के समकालीन होते तो स्पष्ट सरलता के साथ विश्वास होता।

प्रश्नकर्ता अभय चिरञ्जीवी कहाँ हैं -? भारतभूमि में हो रहे अत्याचारों के बाद भी वे क्यों नहीं सामने आते ?

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु सामान्य से बहुत अधिक दीर्घ निरापद जीवन जीने वाले लोग चिरञ्जीवी कहलाते हैं। इसमें - ऋषियोनि से अश्व/प्रधानता से मनुष्यत्थामा, वेदव्यास, कृपाचार्य एवं परशुरामजी हैं। असुर योनि से विभीषण एवं राजा बलि हैं। किम्पुरुष योनि से हनुमान् जी हैं। इसके अतिरिक्त ऋषियोनि के मार्कण्डेय, लोमश, बकदाल्भ्य, खेचर योनि के काकभुशुण्डि, नाडीजङ्घ, असुर योनि के मय दानव, जलचर योनि के अकूपार आदि की भी गौण गणना होती है, किन्तु प्रधानता पूर्ववर्णित सात की ही है।

अब प्रश्न है कि ये रहते कहाँ हैं ? अश्वत्थामा और कृपाचार्य सुदूर हिमालय के सिद्धाश्रम में विद्यमान् हैं। परशुरामजी महेन्द्र पर्वत पर विराजित हैं। हनुमान् जी गन्धमादन पर्वत के कदलीवन में निवास करते हैं, साथ ही किम्पुरुषवर्ष में भी आते जाते रहते हैं। वेदव्यास जी श्रीबद्रीनाथ क्षेत्र में रहते हैं, समयानुसार परशुरामजी के साथ सिद्धाश्रम भी आनाजाना - करते हैं। विभीषण जी दिव्यक्षेत्र की लङ्कापुरी में रहते हैं। राजा बलि अभी तो सुतल लोक में हैं किन्तुआगामी मन्वन्तर में देवलोक चले जायेंगे।

दूसरा प्रश्न यह है कि ये भारतभूमि में धर्म की रक्षा हेतु क्यों नहीं आते ? उत्तर है कि इनका एकमात्र काम धर्म की रक्षा करना नहीं है। धर्म और अधर्म, दिन एवं रात्रि के समान आते जाते रहते हैं। धर्म के चार भागों में कलियुग के प्रारम्भिक दस हजार वर्ष तक मात्र एक भाग बचता है और उसके बाद वह भी नष्ट हो जाता है, यह शाश्वत विधान है। कलियुग के कुल भोगकाल में चारों युगों की सम्मिलित आयु का मात्र दस प्रतिशत है। तो कलियुग के अधर्म का अनुपात सभी युगों के कुल मान में ०१ ही है। इतना १०:सन्तुलन हेतु आवश्यक है।

ध्यातव्य है कि सभी चिरंजीवियों की आयु समान नहीं है। जैसे अश्वत्थामा, वेदव्यास, कृपाचार्य आदि की वर्तमान आयु की तुलना में हनुमान् जी की आयु पौने दो करोड़ वर्ष अधिक है। हनुमान् जी की अपेक्षा परशुरामजी जी आयु दो करोड़ वर्ष और अधिक है। परशुरामजी की अपेक्षा विभीषण जी की आयु पांच करोड़ वर्ष से भी अधिक है। राजा बलि की आयु विभीषण जी

की अपेक्षा कई मन्वन्तर अधिक है। जिस समय जिसको जितना कार्य दिया जाता है, वह उतना ही करता है। युगों की व्यवस्था में तब तक कोई हस्तक्षेप नहीं करते, जब तक कि सीधे त्रिदेवमण्डल से कोई विशिष्ट निर्देश न मिले, अथवा इनका कोई साधक अपनी भक्ति और तपस्या के माध्यम से इन्हें ऐसा करने को न कहे।

जिस प्रकार आपने अपने जीवन में कई बरसातें और सर्दी गर्मी के दिनरात देखे हैं-, वैसे ही चिरञ्जीवियों ने भी अनेकों बार सत्ययुग से कलियुग के चक्र देखा है। वे जानते हैं कि सब अस्थायी एवं परिवर्तनशील है। कलियुग सैकड़ों बार आया है और आयेगा, साथ ही इसकी आयु भी पूरे चतुर्युगी का बस दस प्रतिशत ही है, अतः उन्हें कोई उद्वेग नहीं होता। हम सब इस बात से अनभिज्ञ और भुक्तभोगी होने के कारण अधिक प्रभावित होते हैं। वैसे ध्यातव्य यह भी है कि हम अपने जीवन में कितने वर्णाश्रमोचित श्रुतिस्मृति पुराणोक्त सदाचार का पालन करके धर्म को दृढ़ कर रहे हैं, जो अपेक्षा रखते हैं कि सभी या कोई चिरञ्जीवी हमें सङ्कट में देखकर दौड़ता हुआ चला आएगा।

प्रश्नकर्ता क्षितिज सोमानी नारायण। आदरणीय गुरुजी -, कृपया इसका समाधान करने का कष्ट करें। प्रक्षिप्तवाद से भी इसका सम्बन्ध है। आप दिव्यविधा से शास्त्रों का शुद्धतम अर्थ जानने में समर्थ हैं।

सूत्र में चकार घटित सूत्र को पूर्वसूत्र से एकीभूत मानेंगे या विकल्प मानेंगे?

जैसे–

विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्॥
हेतुदर्शनाच्च॥

यहाँ इस विरोधाधिकरण का तात्पर्य इनमें से कौनसा सही है, कृपया बताने का कष्ट करें—

१स्मृति के अप्रामाण्य के कारण में श् .रुतिविरोध और हेतुदर्शन दोनों ही का होना आवश्यक है। दोनों में से यदि एक नहीं है, तो अप्रमाण नहीं कह सकते।

इस पक्ष में हेतुदर्शनाच्च सूत्र का चकार आधार है। जैसे कहेंगे कि "राम और कृष्ण का पूजन करो", तब यहाँ राम और कृष्ण में विकल्प नहीं है, अपितु शब्द क "और"े कारण दोनों का पूजन करना है, किसी एक को भी छोड़ना नहीं है। यदि एक को छोड़ना ही होता, तो सूत्रकार च की बजाय वा लिखकर सूत्र लिखते। "हेतुदर्शनाद्वा"

श्रुतिविरोध और हेतुदर्शन में से कोई एक हो, तब अप्रमाण कहने में क्या दोष है?

इसपर कहते हैं–

लोभ आदि हेतुदर्शन तो कोई कुतार्किक गरुड़पुराण आदि में दान आदि विधियों में भी दिखा देगा। परन्तु जबतक श्रुतिविरोध न हो, तब तक हेतुदर्शनमात्र से ही अप्रमाण नहीं कह सकते। हेतुदर्शन के साथ श्रुतिविरोध भी होना चाहिए।

श्रुतिविरोध तो कोई श्रौतलिंग से भी दिखा देगा और दूसरा यह भी है कि सबको सभी श्रुतियाँ उपलब्ध नहीं रहती हैं, अतः कोई स्मृति किसी श्रुति का विरोध करती दिखें, तो भी सम्भव है कि किसी अन्य श्रुति में वह विधि दी गई हो और इस प्रकार प्रत्यक्षश्रुति और स्मृति से अनुमानित श्रुति दोनों में द्वैध होने से दोनों ही धर्म हों। यदि श्रुतिविरोध ही हो, हेतुदर्शन न हो, तो यह कहना ठीक नहीं कि स्मृति अप्रमाण है। श्रुतिविरोध के साथ हेतु भी दिखना चाहिए कि अमुक श्रुतिविरोधी प्रतीत

होने वाले स्मृतिवाक्य में लोभमूलकत्व, प्रत्यक्षादिमूलकत्व, वेदबाह्यत्व आदि हेतु दिखते हैं। तभी उसकी वास्तविक श्रुतिविरुद्धता सिद्ध होगी। केवल स्वयं को उपलब्ध श्रुति से विरोध मात्र से नहीं।

२दूसरा पक्ष विकल्प मानता है .–

श्रुतिविरोध और हेतुदर्शन में से यदि कोई एक कारण भी हो, तो उस स्मृति को अप्रमाण मानना है। श्रुतिविरोध और हेतुदर्शन दोनों ही बराबरी के हैं। दोनों में से कोई एक कारण भी हो, तो स्मृति अप्रमाण हो जाएगी। इस पक्ष में ऐसा है कि यद्यपि प्रत्यक्षश्रुति से बाध न भी हुआ, तो भी हेतुदर्शन मात्र से भी अप्रमाण कह सकते हैं। अथवा हेतुदर्शन न हो, तो भी प्रत्यक्षश्रुति से बाधमात्र से स्मृति को अप्रमाण कह देंगे।

३अब एक . तीसरा पक्ष भी है, जो दूसरे पक्ष की आधी बात से सहमत नहीं है–

श्रुतिविरोध अप्रमाण होने का प्रमुख हेतु है, अतः उसका होना अनिवार्य है। हेतुदर्शन न हो, परन्तु श्रुतिविरोध हो, तब तो अप्रमाण मानना ही है। परन्तु यदि श्रुतिविरोध न दिखता हो, फिर भी हेतुदर्शन हो, तो अप्रमाण नहीं कह सकते, प्रमाण मानना है। कारण कि लोभ आदि हेतुदर्शन तो कोई कुतार्किक गरुड़पुराण आदि में दान आदि विधियों में भी दिखा देगा। परन्तु जबतक श्रुतिविरोध न हो, तब तक हेतुदर्शनमात्र से ही अप्रमाण नहीं कह सकते।

॥ नारायण ॥

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु - अप्रमाण में श्रुतिविरुद्ध होना ही मूल है। हेतुदर्शन तो श्रुतियों में भी मिल जायेगा यथा - कल्पन्ताम् आदि। किन्तु जयन्तन्त्वानुदेवा मदन्तु अथवा यज्ञेन

प्रदापादानप्रसङ्गनिवृत्तिवत्तद्विनिवृत्तिः।

जो बात सिद्ध है, वह मूर्ख और ज्ञानी दोनों के लिए सिद्ध है। जैसे एक दीपक के प्रकाश को सिद्ध करने हेतु बाकी दीपकों को नहीं लाना पड़ता। फिर कहते हैं -

प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाहेतुर्दृष्टान्तः।

प्रतिपक्ष का उदाहरण या सिद्धान्त विलक्षण होने से पूर्वसिद्धान्त सर्वथा अप्रामाणिक नहीं हो जाता जब तक कि वह) पूर्णतःअयुक्तियुक्त एवं खण्डित न हो, मात्र विलक्षणता के कारण उसे निरस्त नहीं कर सकते।(

भगवान् भी कहते हैं प्रार्थयन्ते। स्वर्गतिं .... त्रैविद्या मां -

हेतुदर्शन भी कारण हो सकता है, किन्तु प्रधानतः नहीं। कारण, कि स्मृति आचारप्रधान हैं और आचार क्रिया प्रधान है। क्रिया अहैतुकी नहीं हो जाती। क्योंकि अहैतुकी क्रिया का फलप्रारब्ध नहीं बनेगा और फलप्रारब्ध से हीन क्रियाओं का प्रायश्चित्त स्मृतियाँ नहीं बता सकती हैं। कृत्याकृत्यविवेक का निर्धारण अहैतुकी क्रिया में सम्भव नहीं है। अतः श्रुतिविरुद्ध होना ही प्रशस्त कारण है। श्रुतिविरुद्ध होने के अनन्तर हेतुदर्शन जोड़ना समीचीन है।

श्रुतिविरुद्ध से तात्पर्य है कि वेदों में उसका स्पष्ट एकमत से निषेध होना चाहिए, न कि दो विरोधाभासी श्रौत प्रमाण अथवा श्रुति का मौन या अनुपलब्ध होना। विरोधाभासी प्रमाणों के होने पर निषिद्ध नहीं होगा क्योंकि एक तो समर्थन कर ही देगा, दूसरा जो अनुपलब्ध है, मात्र अनुमान के आधार पर शब्द का बाध नहीं कर सकते। क्योंकि शब्द आप्तोपदिष्ट है, अनुमान नहीं। इसमें स्पष्टीकरण हेतु पुराण भी द्रष्टव्य हैं क्योंकि भगवान् शिव उन्हें वेदों के ही समान निश्चल मानते हैं -

वेदवन्निश्चलं मन्ये।

दूसरी बात, कौन सी बात किस मार्ग हेतु कही गयी है, प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति। सन्ध्या के निषेध में मैत्रेय्युपनिषत् की यह श्रुति

मृता मोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः।
सूतकद्वयसम्प्राप्तौ कथं सन्ध्यामुपास्महे॥

परमहंस अवधूत हेतु तो मान्य है किन्तु शेष हेतु नहीं। यहाँ इस श्रुति से स्मृतियों का सन्ध्योपदेश बाधित होगा किन्तु श्रुतिविरुद्ध होकर भी अप्रमाण नहीं होगा क्योंकि दोनों का प्रसङ्ग, मार्ग और देश भिन्न है। अतएव यह कहा कि

प्रकरणे वा शब्दहेतुत्वात्।

एवं

लौकिकं वैदिकं वापि प्रमाणं 'दोषवर्जितम्'।
सर्वमाश्रीयते स्वार्थे न चास्मिन्दोषसम्भवः॥

किन्तु लौकिक भी कैसा हो, तो बताया हात्। अन्धानुकरण करके नहींश्रुतिप्राधान्यानुग्र .... न चात्रान्धपरम्परान्यायः -, वेदों की प्रधानता से ही। विरोधाभासी होने पर दोनों ही श्रुति मान्य होंगे, भूयस्त्वेनोभयश्रुति।

हो सकता है, इस शाखा में वह प्रमाण न हो, अन्य में हो, जो हमारे द्वारा अदृष्ट या परम्परया अव्यवहार्य है। किन्तु अप्रमाण नहीं हो सकता है कश्चिदेको विधायकः -, किसी एक को मानना ही है। तो मूल में श्रुतिविरुद्ध होना ही स्मृतियों का अप्रमाण है, किन्तु उनका श्रुतिविरुद्ध होना अन्यतम होना चाहिए, स्पष्ट होना चाहिए। हेतुदर्शन का बल भी उसके बाद ही युक्त होगा।

-

प्रश्नकर्ता दर प्रणाम। मन में बहुत दिनों से एक शंका व्याप्त है। मेरी धर्मपत्नी सा ! आदरणीय गुरुदेव जी - श्रीरामचरितमानस केसुन्दरकाण्ड का पाठ करते समय इस चौपाई "ढोल गंवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥" ने जब इस चौपाई के अर्थ को छोड़ देती है। उसका मानना है कि यह चौपाई स्त्रियों के ऊपर अत्याचार करने कहती है। मैं को जानने हेतु विद्वानों की शरण ग्रहण की, साथ ही गूगल, यूट्यूब में भी जो अनेकों लेख और वीडियो मिले, उससे मेरे मन में बहुत संशय हो गया है। मैंने विद्वानों की संगति एवं इंटरनेट आदि के माध्यम से जो जाना है, उसके अनुसार कुछ निम्न दृष्टिकोण मुझे प्राप्त हुए हैं।

१मुझे गूगल के कई लेखों के माध्यम से यह ज्ञात हुआ कि तुलसी (पीठाधीश्वर स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज एवं उनके मत से साम्यता रखने वाले महानुभावों का मानना है कि यह चौपाई ही अशुद्ध है। तुलसीदास जी ने ऐसा कुछ लिखा ही नहीं। मूल चौपाई में नहीं है "सूद्र पसु नारी", अपितु क्षुब्ध पसु रारी" है। यद्यपि कई स्थानों पर स्वामी रामभद्राचार्य जी ने परक अर्थ भी उपदिष्ट किया है "सूद्र पसु नारी", किन्तु स्त्री को मारने की बात से वे सहमत नहीं हैं।

२श्रीमहन्त आचार्य सियारामदास नैयायिक जी महाराज एवं उनके मत से दूसरा मत श्रीसर्वेश्वर रघुनाथ भगवान् मन्दिर के (साम्यता रखने वाले लोगों का है, जिसमें वे कहते हैं कि चौपाई तो सही है, "सूद्र पसु नारीही मूलतः शुद्ध है ", किन्तु यहां 'नारी' शब्द का अर्थ नर नारी वाला स्त्रीपरक न होकर-'आपो नारा इति प्रोक्ताः' आदि के आधार पर नार का जलपरक अर्थ लेते हुए, नारीका अर्थ समुद्र है। प्रकरण में समुद्र (न) का ही ताडन हुआ है, इसीलिए जिसमें नार अर्थात् जल हो, वह नारी(न), अर्थात् समुद्र है, स्त्री नहीं। स्त्रीपरक अर्थ करने वाले लोग मूर्ख हैं।

३का है तीसरा मत कुछ अन्य विद्वानों (, जो यह मानते हैं कि चौपाई शुद्ध है, "सूद्र पसु नारीही सही है ", और नारी का अर्थ समुद्र न होकर स्त्री ही है। किन्तु यह वाक्य स्वयं समुद्र ने भयातुर होकर श्रीरामजी से कहा है, अतएव यह उसका निजी

मत है। जैसे रावण ने भी बहुत सी बातें कही हैं, तो उसकी बातों को शास्त्रवाक्य नहीं मान सकते। ऐसे ही समुद्र की कही यह बात भयाक्रान्त होकर उसके मुख से निकला निजी मत है, कोई शास्त्रवाक्य नहीं।

४चौथा मत उन लोगों का है (, जो यह मानते हैं कि चौपाई शुद्ध है, "सूद्र पसु नारीही सही है ", नारी का अर्थ समुद्र न होकर स्त्री ही है, साथ ही समुद्र के द्वारा कथित यह उक्ति उसका निजी मत न होकर शास्त्रवाक्य के रूप में ग्राह्य भी है किन्तु यहाँ 'ताड़ना' शब्द का अर्थ 'मारना' नहीं है, अपितु 'देखनानिरीक्षण करना/' है। जैसे बहुत सी क्षेत्रीय भाषाओं में 'ताड़ना' - 'देखना' समानार्थक है, तो गोस्वामीजी ने ग्राम्य शैली का प्रयोग किया है।

इस प्रकार से सभी श्रेष्ठ जनों के द्वारा एक ही विषय पर इतने विरोधाभासी दृष्टिकोण समाज में भ्रम उत्पन्न कर रहे हैं, इस सन्दर्भ में आप अपने विचारों से मेरा मार्गदर्शन करें ताकि मैं अपने परिवार और समाज में बढ़ती हुई कुबुद्धि के विरुद्ध कुछ कर सकूँ। कृपया मेरा नाम सार्वजनिक न करें, जैसा कि मैं बता चुका हूँ कि मेरे घर में ही लोग इस विषय में द्वेषपूर्ण बुद्धि रखते हैं। पुनः सादर प्रणाम।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु कि अब वे प्रसङ्ग और सनातन धर्म के अनुयायियों के साथ सबसे बड़ी समस्या यह है - शास्त्र के अनुसार नहीं, अपितु परिस्थितियों के अनुसार अर्थ करने लगे हैं। अब देखिए न, यदि इस देश में आधुनिक नारीवादी और वामपंथी नहीं होते तो इतने अर्थ भी नहीं होते। भला किसी ढोल ने कभी कहा कि मुझे मत पीटो ? किसी पशु ने भी आकर कोई शिकायत नहीं की कि मुझे मर मारो अन्यथा मैं अभियोग कर दूंगा। साथ ही कोई व्यक्ति स्वयं यह भी आकर नहीं कहेगा कि देखो, मैं हूँ गंवार। और गंवारों को मारने की जो बात तुलसीदास जी ने लिखी है, वो सर्वथा गलत है। हम गंवार लोग इसका विरोध करते हैं।

यदि कल को कोई ढोल, पशु या स्वयं को गंवार महासभा का नेता बताने वाला व्यक्ति आ जाये या ऐसा कोई कानून बन जाये तो इस चौपाई में ढोल, गंवार और पशु शब्द के भी अनेकानेक अर्थ विद्वज्जन केवल इसी भय से निकाल देंगे कि कहीं वे प्रशासन के हत्थे न चढ़ जायें। जब तक इस देश में वामपंथी और नारीवादियों के समर्थक कानून नहीं थे, तब तक जो सामान्य अर्थ है, वही सब करते थे। कानून और संस्थाओं के सामने आते ही सभी लोग वाले अर्थों की "सेफ ज़ोन" मध्यममार्गी व्याख्या करने लगे।

सबसे पहले हम बात करेंगे आपके द्वारा प्रस्तुत चौथे मत की, जिसमें कहा गया कि सब सही है किन्तु ताड़ना का अर्थ 'देखना' है। यह व्याख्या प्रथम 'ढोल' से खण्डित हो जाती है, क्योंकि ढोल को देखते रहने मात्र से उसकी कोई उपयोगिता नहीं होगी। ढोल की सार्थकता 'विधिपूर्वक' ताड़न में ही है (पीटने), न कि देखते रहने में। उसके बाद जो लोग यह कहते हैं कि चौपाई अशुद्ध है, वहाँ 'सूद्र पसु नारी' नहीं, अपितु 'क्षुब्ध पसु रारी' है, उन्हें और उनकी विद्वत्ता को मैं दूर से ही प्रणाम करता हूँ। ऐसे लोग समयानुसार अपनी सुविधा के अनुसार और विद्वदजीर्ण के प्रभाव में शास्त्रीय वाक्यों को प्रामाणिकप्रक्षिप्त-, शुद्धहैं। यह तो वही बात हुई कि पिता के ऊपर चोरी का झूठा आरोप लगने पर उसका भयाक्रान्त पुत्र अशुद्ध कहते रहते-, उस आरोप का सप्रमाण खण्डन करने के स्थान पर यह कहने लगे कि 'मैं इस व्यक्ति को नहीं जानता, यह मेरा पिता है ही नहीं, मैं तो टोरंट से डाउनलोड हुआ था।'

जो लोग यह कहते हैं कि सभी बातें ठीक हैं किन्तु यह समुद्र का निजी मत है, उसे शास्त्रवाक्य नहीं मान सकते, इनकी महानता को भी मैं प्रणाम करता हूँ। देखिए, समुद्रदेव एवं भगवान् श्रीरामजी के मध्य हुए इस संवाद को हमने और आपने तो प्रत्यक्ष देखा नहीं। सर्वस्य लोचनं शास्त्रम्। शास्त्र ही सबके नेत्र हैं, उन्हीं शास्त्रों में वर्णित कथानक के माध्यम से देखा। भला हो ऐसे लोगों का, जो यह कह सकते थे कि समुद्र ने ऐसा कुछ कहा ही नहीं था, वो तो तुलसीदास जी ने अपने मन से अपना 'निजी मत' जोड़ दिया। किन्तु इनकी उदारता तो देखिए कि तुलसीदास जी की वकालत करने के फेर में इन्होंने तुलसीदास जी को मात्र कथा लेखक की भूमिका में रखते हुए समुद्रदेव को ही भ्रान्तचित्त बताकर उनके वचन को अप्रामाणिक कह दिया। वैसे भी समुद्र तो इनसे आकर लड़ेंगे नहीं।

अब हम बात करते हैं उस मत की, जो यह मानता है कि सब सही है किन्तु नारी शब्द का अर्थ स्त्री नहीं है, अपितु स्वयं 'नार' अर्थात् जल को धारण करने वाला समुद्र है। हम एक साथ इस मत और समुद्र के कथन को अप्रामाणिक मानने वाले मत की समीक्षा करेंगे। जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने प्रारम्भ में ही स्पष्ट किया कि उन्होंने अपने मन से कुछ जोड़ कर नहीं लिखा है, जो लिखा है वह विभिन्न पुराण, वेद, आगम, अन्य रामायण तथा ग्रन्थों से समर्थित विषयवस्तु के आधार पर ही लिखा है। तो यह प्रस्तुत चौपाई, जो समुद्रदेव ने कही और गोस्वामीजी ने वर्णित की, इसका आधार क्या है ?

सनातन धर्म में आचार की बड़ी प्रधानता है। महाभारत में कहते हैं आचारप्रभवो धर्मः। धर्म का उद्भव आचार से है। यह - आचार - भी कहते हैंहीनं न पुनन्ति वेदाः। आचारहीन व्यक्ति को वेद भी पवित्र नहीं करते। शुभाशुभ कर्म तथा उनके परलोक में भोगोपभोग के विषय में जानने हेतु सनातन धर्म में गरुडपुराण की बड़ी महत्ता है। प्रस्तुत चौपाई का आधार गरुडपुराण के आचारकाण्ड में प्राप्त होता है -

दुर्जनाः शिल्पिनो दासा दुष्टाश्च पटहाः स्त्रियः।
ताडिता मार्दवं यान्ति न ते सत्कारभाजनम्॥
(गरुडपुराण, आचारकाण्ड, अध्याय १०९ -, श्लोक (३१ -

उपर्युक्त श्लोक में स्पष्ट कहते हैं (कारीगर) जो शिल्पी -, दास दुर्जन हैं, ढोल आदि वाद्ययन्त्र हैं और दुष्टा स्त्रियाँ हैं, ये ताड़ना से मृदुता को प्राप्त करते हैं, अतः ये सत्कार के अधिकारी नहीं हैं। यह सामान्य शब्दार्थ है), विवक्षया आगे बतायेंगे(

अब इसी श्लोक का भाव समुद्रदेव ने भी कहा है, जिसे गोस्वामीजी ने लिपिबद्ध किया है। यहाँ तो नारी शब्द का अर्थ समुद्र भी नहीं लगा सकते क्योंकि विशेषतः स्त्री शब्द आ चुका है, तो सिद्ध होता है कि उस प्रसङ्ग में नारी का अर्थ समुद्र न लगाकर, स्त्री लगाने वाले लोग "मूर्ख नहीं हैं।"

अब स्त्रियों को ताडित करने की बात क्यों है, इसके लिए इसी अध्याय में श्लोक ३८में सिद्धान्त बताया है। वहाँ नदी ३९- और नारी की तुलना की गयी है। जल तो नदी में भी होता ही है, किन्तु वहाँ अलग से नदी और नारी कहा, नारी का अर्थ वहाँ भी स्त्री ही है। कहते हैं -

नद्यश्च नार्यश्च समस्वभावाः स्वतन्त्रभावे गमनादिके च।
तोयैश्च दोषैश्च निपातयन्ति नद्यो हि कूलानि कुलानि नार्यः॥
नदी पातयते कूलं नारी पातयते कुलम्।
नारीणाञ्च नदीनाञ्च स्वच्छन्दा ललिता गतिः॥

यदि बिल्कुल स्वतन्त्र ही होता छोड़ दिया जाये तो गमन के सन्दर्भ में नदी और नारी का स्वभाव एक (बिना नियन्त्रण के) है। अनियन्त्रित स्वभाव वाली नदी अपने जल से किनारों को डुबा देती है तो अनियन्त्रित स्त्री अपने दोषों से कुल को डुबा देती है।

ध्यातव्य है कि स्त्री का नियन्त्रण करने का अर्थ उसे बांधकर रखना नहीं है। माता, पिता, गुरुजन अपने आचरणों से आदर्श प्रस्तुत करते हुए अपनी कन्या को श्रेष्ठ संस्कार दें, वही उसके लिये मर्यादा और नियन्त्रण का कार्य करता है।

अब यहाँ जो ताडन शब्द आया है, उसे भोजपुरी, अवधी आदि ग्राम्यभाषा में 'देखने' के अर्थ में भी नहीं ले सकते क्योंकि एक तो श्लोक संस्कृत का है, दूसरे पटह त्र आंखों से देखने में उसकी क्या उपयोगिताको मा (ढोल)? बृहद्विष्णुस्मृति में ताडन का उद्देश्य और विधि स्पष्ट की गयी है।

शास्यं शासनार्थं ताडयेत्। तं वेणुदलेन रज्ज्वा वा पृष्ठे।
(बृहद्विष्णुस्मृति, अध्याय ७१ -, सूत्र (८२-८१ -

अर्थात्, जो शासन करने योग्य हैं (नस्थ लोगआपके अधी), उनपर शासन करने हेतु उनकी ताडना करे। कैसे करे)?) पीठ पर बांस की छड़ी अथवा रस्सी से ताडित करे। तो ताडना शब्द का जो अर्थ 'देखना' लगा रहे हैं, वह निरस्त हो गया।

ये तो हुई नारी की बात। अब शूद्र की भी बात करते हैं। शिल्पी और दास शब्द से उस श्लोक में शूद्र का परिलक्षण होता है क्योंकि शिल्पकर्म शूद्रधर्म के (नौकरी) और दासकर्म (कारीगरी) अन्तर्गत व्यवस्थित है। ध्यान रहे, दास और दासकर्म का अर्थ वो Slavery नहीं है, जो अमेरिका, अरब और अफ्रीका में होती थी। भारतीय समाज के सन्दर्भ में दासप्रथा और दास शब्द का जो अर्थ और इतिहास है, उसका विस्तृत वर्णन मैंने अपनी पुस्तक 'उत्तरकाण्ड प्रसङ्ग एवं संन्यासाधिकार विमर्श' के प्रथम भाग में किया है। उस विषय के लेख को मेरी पुस्तक 'अमृत वचन' में भी पढ़ा जा सकता है।

महाभारत के अनुशासनपर्व में कहते हैं -

कारुकर्म च नाट्यं च प्रायशो नीचयोनिषु।
तयोरपि यथायोगं न्यायतः कर्मवेतनम्॥

कारीगरी और अभिनय, यह प्रायः निम्न योनि वाले (परिश्रम के अनुसार) लोग करते हैं। उनको भी यथायोग्य (शूद्रवर्ण) न्यायोचित वेतन दिया जाना चाहिए।

व्याख्यातः शूद्रधर्मोऽपि जीविका कारुकर्म च।
तद्वद्द्विजातिशुश्रूषा पोषणं क्रयविक्रयौ॥
(मार्कण्डेय पुराण, अध्याय (२८ -

शूद्रधर्म भी बताया जाता है। उनकी आजीविका कारीगरी, द्विजातियों की नौकरी एवं खरीदसे बतायी गयी है। (व्यापार) बिक्री-

शुश्रूषैव द्विजातीनां शूद्राणां धर्मसाधनम्।
कारुकर्म तथाजीवः पाकयज्ञादि धर्मतः॥
(कूर्मपुराण, पूर्वभाग, अध्याय (०२ -

शूद्रों के धर्म की सिद्धि एवं आजीविका द्विजातियों की सेवा, कारीगरी एवं धर्मपूर्वक पाकयज्ञ आदि के माध्यम से होती है।

सर्वातिथ्यं त्रिवर्गस्य यथाशक्ति दिवानिशम्।
एवं ते विहिता देवि लोकयात्रा स्वयम्भुवा॥
तथैव शूद्रा विहिताः सर्वधर्मप्रसाधकाः।
शूद्राश्च यदि ते न स्युः कर्मकर्ता न विद्यते॥
त्रयः पूर्वे शूद्रमूलाः सर्वे कर्मकराः स्मृताः।
ब्राह्मणादिषु शुश्रूषा दासधर्म इति स्मृतः॥
वार्ता च कारुकर्माणि शिल्पं नाट्यं तथैव च।
अहिंसकः शुभाचारो देवताद्विजवन्दकः॥
शूद्रो धर्मफलैरिष्टैः स्वधर्मेणोपपद्यते।
एवमादि तथान्यच्च शूद्रधर्म इति स्मृतः॥
(महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय २०८ -, श्लोक (३६-३२ -

भगवान् शिव कहते हैं ब्राह्मण) तीनों वर्ग ! हे देवि -, क्षत्रिय एवं वैश्य का ('अपनी शक्ति के अनुसार' दिनरात सेवा करना - ही, शूद्रवर्ण के लिए ब्रह्मदेव ने आजीविका निश्चित की है। मैंने दासप्रथा से सम्बन्धित अपने लेख में सिद्ध किय)ा है कि यह सेवा कोई गुलामी नहीं, अपितु वैतनिक नौकरी थी, जैसा कि आजकल सभी नौकरी के पीछे भाग रहे हैं(

अतएव शूद्रों को सबों के धर्मों का साधक बताया गया है, क्योंकि यदि शूद्र न होते तो कोई कर्मचारी भी नहीं होता। पूर्व के तीनों शूद्र के आश्रय से ही (द्विजाति)कर्म करने वाले कहे गये हैं, ब्राह्मण आदि की शुश्रूषा को ही दासधर्म कहा गया है।

खेती, कारीगरी, शिल्प, अभिनय आदि, हिंसावृत्ति का त्याग, शुभ आचरण, देवता तथा ब्राह्मणों की वन्दना, यही सब कर्म शूद्रों का धर्म है, इसीलिए उसका धर्म उसके अपने कर्म से ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रारम्भ क्षत्रिय) और अन्य (ब्राह्मण) शूद्रों का धर्म बताया गया है। (और वैश्य के साथ

अब प्रश्न उठता है कि क्या जब ताडन का अर्थ मारना है, और गरुडपुराण के श्लोक एवं श्रीरामचरितमानस की चौपाई में शूद्र तथा स्त्री का वर्णन भी है तो क्या उन्हें मारते पीटते रहना चाहिए ? तो उत्तर है, बिल्कुल नहीं। यह विधि केवल दुर्जन शूद्र एवं दुष्टा स्त्री हेतु है, निर्दोष हेतु नहीं।

निर्दोषं ताडयेत्पश्चान्मोहात्पापेन केनचित् ।
स पापी पापमाप्नोति निर्दोषस्य शरीरजम्॥
(पद्मपुराण, भूमिखण्ड, अध्याय ३३ -, श्लोक (१२ -

जो व्यक्ति किसी मोह या पापबुद्धि के कारण किसी निर्दोष को ताडित करता है (मारता पीटता), वह पापी उस निर्दोष के शरीर में जितने पाप हैं, उन्हें ग्रहण कर लेता है। किसी को पीड़ा न पहुंचाये। हां, अपने पुत्र और शिष्य को मार सकते हैं।

न कुर्यात्कस्यचित्पीडां सुतं शिष्यं तु ताडयेत्।
(पद्मपुराण, स्वर्गखण्ड, अध्याय (५५ -

लेकिन पुत्र और शिष्य को भी अकारण ही नहीं मारना चाहिए, अपितु उनका अपराध होने पर उचित मार्ग की शिक्षा देने हेतु ही ऐसा करना चाहिए। महाभारत के अनुशासनपर्व में कहते हैं अन्यत्र पुत्राच्छिष्याच्च -शिक्षार्थं ताडनं स्मृतम्। भविष्यपुराण के उत्तरपर्व में कहते हैं कि शिक्षा देने के अतिरिक्त प्रसङ्ग में शिष्य और पुत्र को नहीं मारना चाहिए नान्यत्र - तम्।पुत्रशिष्याभ्यां शिक्षया ताडनं स्मृ

यदि शिल्पी, दास निर्दोष हो तो उसे कदापि नहीं मारना चाहिए (शूद्र), किन्तु यदि दोषी हो तो ? उस समय कहा -

कर्मारम्भं तु यः कृत्वा सिद्धं नैव तु कारयेत् ।
बलात्कारयितव्योऽसौ अकुर्वन्दण्डमर्हति॥
(बृहत्कात्यायनस्मृति, श्लोक (६५७ -

जो कारीगर एक बार कार्य प्रारम्भ करके उसे बिना पूरा किए छोड़ देता है, उससे वह कार्य बलपूर्वक पूरा करवाना चाहिए, न करने पर उसे दण्डित करना चाहिए।

आज भी आप देखते होंगे, बहुत से कारीगर, ठेकेदार आदि निजी या सरकारी कार्यों में खूब आलस्य एवं प्रमाद करके अपने नियोक्ता का काम बिगाड़ देते हैं। ऐसी स्थिति हेतु ही दण्ड की बात आयी है। वह दण्ड कैसा हो ? वहीं श्लोकमें ९६३ - कहते हैं-

ताडनं बन्धनञ्चैव तथैव च विडम्बनम्।
एष दण्डो हि दासस्य नार्थदण्डो विधीयते॥

उसे ताडित करे (मारे), कैद में डाल दे, उसे व्याकुल कर दे। दासों का यही सब दण्ड बताया गया है, उसके लिए आर्थिक दण्ड नहीं है क्योंकि वे धन से अधिक समृद्ध नहीं हो)ते(

शूद्र के अतिरिक्त अन्य जन वही पाप करें तो शूद्र से दुगुना वैश्य, उससे दुगुना क्षत्रिय और उससे दुगुना ब्राह्मण को दण्ड मिलता है। हां, शूद्र के लिये संन्यास लेकर जप, होम आदि करना निषिद्ध है, अन्यथा उसे मृत्युदण्ड मिलता है, अथवा दुगुना जुर्माना लगता है। वह अपने वर्णोचित कर्म को करना हुआ पुराणागमोक्त विधि से त्यागात्मक भाव वाले पाकयज्ञ आदि का आश्रय ले सकता है, उसी से उसके धर्म की वृद्धि होती है।

येन दोषेण शूद्रस्य दण्डो भवति धर्मतः ।
तेन चेत्क्षत्रविप्राणां द्विगुणो द्विगुणो भवेत्।
प्रव्रज्यावसितं शूद्रं जपहोमपरायणम् ।
वधेन शासयेत्पापं दण्ड्यो वा द्विगुणं दमम्॥
(बृहत्कात्यायनस्मृति, श्लोक (४८६-४८५ -

इसीलिए शम्बूक का वध श्रीरामजी ने किया था। शम्बूक के वध का पूरा विस्तृत प्रसङ्ग और शास्त्रीय रहस्य समझने के लिए मेरी पुस्तक उत्तरकाण्ड प्रसङ्ग एवं"संन्यासाधिकार विमर्शका अध्ययन कर सकते हैं। "

निर्दोष के प्रति द्वेषपूर्वक ताडन करना, उसे बन्धन में डालना, उसके प्रति अपशब्दों का प्रयोग करना, दुराचार कहलाता है। वह सज्जनों का मार्ग नहीं है। श्री भरतमुनि ने उपदिष्ट किया है -

ताडनं बन्धनं चापि यो विमृश्य समाचरेत्॥
तथा परुषवाक्यश्च दुराचारः स तन्यते॥
(नाट्यशास्त्र, अध्याय (२२ -

दुराचार करने से आयु की हानि होती है, व्यक्ति नरक जाता है। स्त्रियों के अनियन्त्रित होने से दुराचार बढ़ता है, वर्णसङ्करता फैलती है। महाभारत के अनुशासनपर्व में कहते हैं -

ये नास्तिका निष्क्रियाश्च गुरुशास्त्रातिलङ्घिनः।
अधर्मज्ञा दुराचारास्ते भवन्ति गतायुषः॥
विशीला भिन्नमर्यादा नित्यं सङ्कीर्णमैथुनाः।
अल्पायुषो भवन्तीह नरा निरयगामिनः॥

जो लोग ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते, स्वकर्म का परित्याग करते हैं, अपने गुरु एवं शास्त्रों की अवहेलना करते हैं, अधर्म का समर्थन करने वाले दुराचारी हैं, उनकी आयु नष्ट होती है। जो शीलरहित हैं, मर्यादा को खण्डित करने वाले हैं, नित्य सम्भोग करने वाले हैं (अविधिपूर्वक), वे लोग आयुहीन होकर नरक में जाते हैं।

आगे यह भी कहते हैं -

यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम्।
तादृशं विद्यते किञ्चिदनायुष्यं नृणामिह॥

यावन्तो रोमकूपाः स्युः स्त्रीणां गात्रेषु निर्मिताः।
तावद्वर्षसहस्राणि नरकं पर्युपासते॥

परायी स्त्री से सम्भोग करने के समान, पुरुष के लिये कोई दूसरा आयुनाशक पाप नहीं है। उस स्त्री के शरीर में जितने रोम हैं, उतने सहस्र वर्षों पर व्यभिचारी को नरक में रहना होता है।

तो भाव यह है कि व्यभिचार का दण्ड केवल पुरुष को ही नहीं, स्त्री को भी भोगना पड़ता है। स्त्री यदि अपने संस्कार और मर्यादा में दृढ़ रहे, तो कोई परपुरुष व्यभिचार नहीं कर पायेगा। यदि कदाचित् बलात्कार कर दे तो स्त्री को कोई पाप या दोष नहीं लगेगा, अपितु वह पुरुष ही घोर दण्ड का भागी होगा। किन्तु स्त्री ही दुष्टा हो जाये तो ?

श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम अध्याय में यअर्जुन यही चिन्ता तो व्यक्त करते हैं षु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः। स्त्री - स्त्रिय ! हे कृष्णों के दुष्ट हो जाने पर वर्णसङ्कर उत्पन्न होने लगते हैं। और दुष्टा स्त्रियों के लिए ताडन का विधान है, सत्कार का नहीं, यह गरुड़पुराण के आचारकाण्ड ने बताया, जो बात गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी लिखी है। जो सज्जन हैं, निर्दोष हैं, वह शूद्र और स्त्री तो सदैव उत्तम व्यवहार के योग्य हैं, उन्हें मारने से घोर नरक जाना पड़ता है। महाराज ययाति को देवराज इन्द्र के सारथी मातलि ने बताया है कि कौन कौन से कर्म मनुष्य को नरक ले जाते हैं। विषय बहुत लंबा है, बहुत पाप हैं, प्रासङ्गिक पापों की चर्चा करते हैं -

परदाराभिगमनं साध्वीकन्याभिदूषणम्।
×××××××××
गवां क्षत्रियवैश्यानां स्त्रीशूद्राणाञ्च घातनम्।
शिवायतनवृक्षाणां पुण्यारामविनाशनम्॥
×××××××××
निर्दयोऽतीव भृत्येषु पशूनां दमकश्च यः।
×××××××××
यो भार्यापुत्रमित्राणि बालवृद्धकृशातुरान्।
भृत्यानतिथिबन्धूंश्च त्यक्त्वाश्नाति बुभुक्षितान्॥
×××××××××
साधून्विप्रान्गुरूंश्चैव यश्च गां हि प्रताडयेत्।
ये ताडयन्त्यदोषाञ्च नारीं साधुपदे स्थिताम्॥
×××××××××
यः करोति स्वयं कर्म कारयेद्वानुमोदयेत्।
कायेन मनसा वाचा तस्य चाधोगतिः फलम्॥
(पद्मपुराण, भूमिखण्ड, अध्याय(६७ -

देव मातलि कहते हैं महाराज -ययाति दूसरे की स्त्री से रमण करना !, शुभ आचरण वाली कन्या को (बलात्कार आदि से) दूषित करना, गौ की हत्या करना, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री, शूद्र आदि को मारना, मन्दिर, वृक्ष, बगीचे आदि को नष्ट करना, अपने नौकरों से निर्दयतापूर्वक व्यवहार करने वाला, पशुओं को बर्बरता से मारने वाला, जो अपनी भूख से छटपटाती हुई पत्नी, पुत्र, मित्र, बालक, वृद्ध, दुर्बल, नौकर, अतिथि और अन्य बन्धुओं को बिना भोजन दिए खाता है, साधु, ब्राह्मण, गुरुजनों और गौ को प्रताड़ित करना, अच्छे आचरण वाली निर्दोष नारी को ताडित करना (स्त्री), जो स्वयं ऐसा करता है अथवा किसी से करवाता है अथवा शरीर, मन या वाणी से समर्थन करता है, उसे नरक में अधोगति मिलती है।

इस प्रकार से निष्पक्षता एवं निर्भयता से पूरे प्रकरण का अध्ययन करने पर मैं इस निष्कर्ष पर आता हूँ कि चाहे कोई वामपंथी, नारीवादी, मध्यममार्गी धर्माधिकारी कुछ भी कहे, 'ढोल गंवार सूद्र पसु नारी। सकल ताडना के अधिकारी॥' यह चौपाई

शुद्ध है, प्रामाणिक है, यहाँ नारी का अर्थ स्त्री एवं ताडना का अर्थ मारना ही है, किन्तु यह मर्यादा की रक्षा हेतु केवल दुष्ट आचरण करने वालों के सन्दर्भ में है, जो कि 'कानूनव्यवस्था-' के लिए नितान्त आवश्यक है। इस चौपाई में सामान्य और सरल शासनधर्म का उपदेश है, इसकी अनावश्यक रूप से अनर्थकारिणी व्याख्या मूल शास्त्रीय आलोक को नष्ट करती है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु
Nigrahacharya Shri Bhagavatananda Guru

प्रश्नकर्ता आजकल जो म्लेच्छ समुदाय के जनों को घर - (आचार्य ऋषिकुमार तिवारी एवं पण्डित सुदर्शन आचार्य आदि) वापसी के नाम पर हिन्दू बनाया जा रहा है, उसपर शास्त्र का क्या मत है ?

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु छ सिद्धान्त यहाँ स्मरणीयश्रीमद्भगवद्गीता के कु - हैं मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः - - पापयोनयः। पापयोनि में पड़े म्लेच्छजन के लिये भी परमगति का विधान है। श्रीमद्भागवत भी कहते हैं शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥ आदि। .....किरातहूणान्ध्रपुलिन्द

आज कल जो किसी ईसाई अथवा मुसलमान को कुछ लोग शुद्धिकरण के नाम पर पंचगव्य पिलाकर, स्नान करवा कर, मुण्डन आदि के बाद जनेऊ देकर शुद्ध सनातनी घोषित कर देते हैं, उसे ब्राह्मण या क्षत्रिय या ऐसा ही कुछ घोषित कर देते हैं, यह मेरी दृष्टि में आपत्तिजनक है। हाँ, शास्त्रों में शुद्धिकरण विधान अवश्य है। किन्तु किसकी शुद्धि किस प्रकार से हो सकती है, किसकी नहीं हो सकती है, यह सब भी निश्चित किया गया है।

पुनः प्राप्य स्वदेशञ्च वर्णानामनुपूर्वशः।
कृच्छ्रस्यार्धे ब्राह्मणस्तु पुनः संस्कारमर्हति॥
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण(

म्लेच्छैर्गतानां चौरैर्वा कान्तारे वा प्रवासिनाम्।
भक्ष्याभक्ष्यविशुद्ध्यर्थं तेषां वक्ष्यामि निष्कृतिम्॥
पुनः प्राप्य स्वदेशञ्च वर्णानामनुपूर्वशः।
कृच्छ्रस्यान्ते ब्राह्मणस्तु पुनः संस्कारमर्हति॥
(अग्निपुराण, अध्याय (१७० -

शुद्धिकरण का सर्वाधिक मान्य ग्रन्थ देवलस्मृति है। देवल ऋषि से अन्य महात्माओं ने प्रश्न किया कि जिन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को म्लेच्छजन बलपूर्वक ले गये हैं, उन्हें भ्रष्ट करके अधर्म करा रहे हैं, उनकी शुद्धि कैसे हो सकती है ?

भगवन् म्लेच्छनीता हि कथं शुद्धिमवाप्नुयुः।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैवानुपूर्वशः॥
कथं स्नानं कथं शौचं प्रायश्चितं कथं भवेत्।
किमाचारा भवेयुस्ते तदाचक्ष्व सविस्तरम्॥

इसके बाद देवल ऋषि ने विस्तृत रूप से बताया है कि ब्राह्मण के लिये क्या क्या व्रत और प्रायश्चित है, क्षत्रिय के लिए क्या है, वैश्य और शूद्र के लिए क्या है। यह भी बताया कि एक दो दिन के लिए म्लेच्छ की संगति हो गयी हो तो क्या प्रायश्चित है, एक महीने के लिए हो तो क्या नियम हैं और यदि एक वर्ष या उससे अधिक समय तक म्लेच्छजन के साथ

उनके अनुसार रहना पड़ा हो तो क्या क्या नियम हैं।

म्लेच्छजन के दबाव में कुछ अभक्ष्य खा लिया हो, विवशता में प्राणभय से गोमांस भक्षण, गोहत्या आदि करनी पड़ी हो, तो कितने दिन तक कौन सा कृच्छ्र, प्राजापत्य आदि व्रत करना है, क्या स्नान, मुण्डन आदि करना है, यह सब भी बताया है।

म्लेच्छैर्हृतानां चौरैर्वा कान्तारेषु प्रवासिनाम्।
भुक्त्वा भक्ष्यमभक्ष्यं वा क्षुधार्तेन भयेन वा॥
पुनः प्राप्य स्वकं देशं चातुर्वर्ण्यस्य निष्कृतिः।
कृच्छ्रमेकं चरेद्विप्रस्तदर्द्धं क्षत्रियश्चरेत्।
पादोनञ्च चरेद्वैश्यः शूद्रः पादेन शुद्ध्यति॥

हाँ, सार में इतना ही है कि ब्राह्मण को जितना प्रायश्चित्त है, उससे आधा क्षत्रिय को, पौन वैश्य को एवं चौथाई शूद्र को करना चाहिए। बहुत अधिक वृद्ध और बालक को उनकी क्षमता के अनुसार बताया जाना चाहिए। किन्तु इसमें यज्ञोपवीत आदि आप नहीं दे सकते, उनका वह शरीर उस समय प्रायश्चित्त से हीन होता है तो मेखलादण्ड आदि से रहित संस्कार ही करना - है।

प्रायश्चित्तविहीनं तु यदा तेषां कलेवरम्।
कर्तव्यस्तत्र संस्कारो मेखलादण्डवर्जितः॥

अब आते हैं, पञ्चगव्य प्राशन पर। ब्राह्मण के लिए मदिरा और शूद्र तथा स्त्रियों के लिये पञ्चगव्य पीना मना है अन्यथा वे महारौरव नरक में जाते हैं।

पञ्चगव्यं पिबेच्छूद्रो ब्राह्मणस्तु सुरां पिबेत्।
उभौ तौ नरकं यातो महारौरवसञ्ज्ञितम्॥
(बृहद्विष्णुस्मृति, अध्याय (५४ -

किन्तु उसी ग्रन्थ में शूद्र को पञ्चगव्य पीने कहा भी है -

शूद्रः शूद्राशौचे स्नातः पञ्चगव्यं पिबेत्॥
(बृहद्विष्णुस्मृति, अध्याय (२२ -

और स्त्री का पञ्चगव्य पान भी वेद में है -

ततो नारीं पञ्चगव्यं प्राशयेत्। बौधायनगृह्यसूत्र), गृह्यशेष, पञ्चम प्रश्न(

तो इसमें संगति कैसे लगे ? दोनों बातें मिलती हैं। तब ऋषि देवल ने कहा ऐसे तो पीना मना ही है किन्तु अमन्त्रक पी - सकते हैं, मन्त्रपूर्वक नहीं। पञ्चगव्य बनाने की विधि जानने वाले समझ गये होंगे कि प्रत्येक द्रव्य की मात्रा के साथ उसके अभिमन्त्रण मन्त्र भी होते हैं।

स्त्रीणां चैव तु शूद्राणां पतितानां तथैव च।
पञ्चगव्यं न दातव्यं दातव्यं मन्त्रवर्जितम्॥

अब ये सब जो शुद्धिकरण के विधान हैं, वो कितने दिनों के लिए कौन से वर्ण का व्यक्ति म्लेच्छों के अधीन रहा, इसमें सबके लिये अलग अलग नियम हैं। पूरा एक एक विधान लिखने से यह कर्मकाण्ड का विषय हो जायेगा, जो यहाँ वांछित

नहीं है। किन्तु ध्यातव्य है कि यह शुद्धिकरण किसके लिए महर्षि देवल ने बताया है ? जो स्वयं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र हो, परिस्थितियों के कारण म्लेच्छों के वश में हो गया हो और कुछ समय तक रहकर पुनः सामान्य स्थिति होने पर, शुद्ध होना चाहता हो। ये नहीं कि आप दो, तीन, पांच पीढ़ी से मुसलमान हैं तो आपको इस विधान से शुद्ध करके ब्राह्मण या क्षत्रिय बना दिया जायेगा। इस प्रकार का शुद्धिकरण नहीं होता है।

महर्षि देवल ने कहा है कि म्लेच्छजन के साथ जिसने भोजन किया, उनके द्वारा विवश किये जाने पर अधर्म किया, म्लेच्छों ने किसी को गुलाम बना लिया, किसी स्त्री का बलात्कार किया, अथवा आपने ही उनकी स्त्रियों से सम्बन्ध बना लिया, उस स्थिति में शुद्धिकरण की बात है। अर्थात्, आपके माता पिता सनातनी थे और आप भी थे किन्तु आक्रमण आदि के कारण महीने दो महीने, साल भर आदि के लिए विवशता में म्लेच्छ बनना पड़ा तब के लिए ये शुद्धि है। जो बालक म्लेच्छ के द्वारा उत्पन्न हुआ है, अर्थात् एक पीढ़ी से भी मुसलमान या ईसाई है, तो उसके लिए यह शुद्धिकरण नहीं है -

स गर्भो दीयतेऽन्यस्मै स्वयं ग्राह्यो न कर्हिचित्।
स्वजातौ वर्जयेद्यस्मात्संकरः स्यादतोऽन्यथा॥

वह बच्चा अन्यजनों को सौंप दिया जाता है। सांकर्य दोष के कारण उसे अपनी जाति में स्थान देने का किया है "निषेध" ने। हां महर्षि देवल, जो लोग दो तीन पीढ़ी से मुसलमान हैं, वे पुनः चाहें कि हमने पञ्चगव्य पी लिया, जनेऊ लटका लिया, मुण्डन करा लिया तो वापस ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि बन गये तो सम्भव नहीं है। ब्राह्मण और क्षत्रिय छोड़िए, आप शुद्ध शूद्र भी नहीं बन सकते। जहाँ सनातन धर्म में व्यक्ति महापातकी होकर परिवार और वर्ण से बहिष्कृत और अव्यवहार्य हो जाता है, आप चाहते हैं कि दो, तीन, पांच पीढ़ी से म्लेच्छ रहने, म्लेच्छ के समान आहार विहार, यौन सम्बन्ध आदि करने के बाद आप एक दिन जगे और कहा कि हमारे पुरखे ये थे, वो थे तो हम भी आज से वही। ऐसा शास्त्रीय दृष्टि से तो सम्भव नहीं है।

कुछ लोग शूद्रो ब्राह्मणतामेति के आधार पर कर्मणा वर्ण सिद्ध करने का प्रयास करते हुए एवं गुणकर्मविभागशः की उक्ति का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि शूद्र भी ब्राह्मण का कर्म करके ब्राह्मण हो जाता है, तो ऐसी बात नहीं है। गीता में भगवान् ने गुणकर्मविभागशः कहा, तो सहजं कर्म कौन्तेय भी कहा। कैसा कर्म ? जो साथ ही जन्म लिया हो। मतलब आपने जन्म लिया, वर्ण और कर्म निर्धारित हो गये। ये नहीं कि आराम से जन्म लो, जवानी में जो कर्म करो, वो वर्ण हो गया और बाद में कर्म बदलते रहो, वर्ण बदलता रहेगा। कैसे शूद्र ब्राह्मणत्व को प्राप्त करता हैं, कैसे ब्राह्मण शूद्रत्व को प्राप्त करता है, इसके विषय में ब्रह्मपुराण के अध्याय में प्रश्न किया गया २२३ -

शूद्रस्तु कर्मणा केन ब्राह्मणत्वञ्च गच्छति।
श्रोतुमिच्छामहे केन ब्राह्मणः शूद्रतामियात्॥

तब नानाविध पापों का वर्णन करते हुए कहा -

तत्रासौ निरयं प्राप्तो वर्णभ्रष्टो बहिष्कृतः।
ब्रह्मलोकात्परिभ्रष्टः शूद्रयोनौ प्रजायते॥

ध्यान दीजिए, ब्राह्मण जन भ्रष्ट होता है तो शूद्रयोनि में लेता है। ऐसे ही शूद्र कैसे ब्राह्मण बनता है "जन्म", उसमें शूद्रोचित सदाचार का वर्णन करने के बाद कहते हैं शूद्रो वैश्यत्वमृच्छति। वैश्य वर्ण में जन्म लेने के बाद वैश्य का सदाचार करता है - "जायते" - तो क्षत्रियकुल में जन्म लेता है

स वैश्यः क्षत्रियकुले शुचिर्महति जायते।

और इस प्रकार से बताया कि उत्तम या अधम कर्म करता हुआ व्यक्ति क्रमशः अगले अगले जन्मों में वर्णोन्नति या वर्णहानि को प्राप्त करता है।

एतत्ते गुह्यमाख्यातं यथा शूद्रो भवेद्द्विजः।
ब्राह्मणो वा च्युतो धर्माद्यथा शूद्रत्वमाप्नुयात्॥
(ब्रह्मपुराण(

जो लोग पीढ़ियों से हो चुके म्लेच्छजन को शुद्धिकरण के नाम पर सीधे ब्राह्मण, क्षत्रिय घोषित कर दे रहे हैं, वे भविष्य में सनातनी समाज के लिये बहुत अधिक संकट उत्पन्न करने वाले हैं। सांकर्यता को जन्म देने वाले हैं। हाँ, यदि कोई म्लेच्छ सनातन धर्म मे आस्था रखता है तो भगवान् का भजन करता हुआ सदाचार पूर्वक जीवन बिताये, अपने ही समान अन्य सनातन धर्म में श्रद्धा रखने वाले से ही वैवाहिक सामाजिक सम्बन्ध रखे और अगले जन्म में शुद्ध होकर "म्लेच्छजन" चातुर्वर्ण्य में सम्मिलित हो। सीधे उठकर कहना कि आज से हम सनातनी हो गये तो शास्त्रीय दृष्टि से आपत्तिजनक ही नहीं, यमराज के दरबार में दंडनीय भी है। कुछ लोग कहेंगे कि मैं समाज को तोड़ रहा हूँ, मेरे जैसे लोग ही द्वेष फैलाते हैं किन्तु मुझे परवाह नहीं है। वर्णशुद्धि और शास्त्रवाक्य से बड़ा कुछ नहीं। सौ वर्ष पूर्व आर्य समाजी भी ऐसा ही कुछ शुद्धिकरण चला रहे थे, आज आर्य समाज लव जिहाद का सबसे बड़ा सहयोगी बन गया है, वर्णाश्रम की दुर्गति हुई सो अलग।

अभी सबको ललक लग रही है कि अमुक व्यक्ति हिन्दू बन गया, वाह जी वाह किन्तु इसका दुष्प्रभाव एक दो पीढ़ी के ! बाद अवश्य दिखेगा। हां, जो इसी जन्म में धर्मान्तरित हुए हैं, वो भी मात्र विवशता से, लोभ आदि से नहीं, तो उनकी शुद्धि कराकर घर वापसी करायें किन्तु जो पीढ़ियों से म्लेच्छ बन चुके हैं, उनके लिए मेरी दृष्टि में तो कोई शास्त्रीय उपाय नहीं है, अपितु निषेध ही है। ये लोग अब हमारे घर में घुसपैठ करेंगे, पीढ़ियों से म्लेच्छ रहकर अचानक से सीधे स्वयं को द्विजाति घोषित करके शुद्ध द्विजातियों के यहाँ सङ्करता फैलाएंगे। ये ट्रॉय के लकड़ी वाले घोड़े हैं, अपने हाथों से अपना भविष्य न बिगाड़ें।

यदि इन लोगों को सनातन धर्म में आस्था है तो अवश्य रखें। सनातनी जीवन शैली को अपनाएं और अपने लिये एक पुनरागत समाज की स्थापना करके शूद्रवर्ण के इतर पञ्चम स्थान प्राप्त करके रहें, वैवाहिक सम्बन्ध आदि करें किन्तु सिद्ध वर्णाश्रम में घुसपैठ न करें। कुछ लोग कह रहे थे कि कोई पञ्चम स्थान नहीं, जो जहाँ से गया था, वो वहीं वापस आयेगा। यह बात सर्वथा सर्वथा शास्त्रविरुद्ध है और अत्यन्त ही घातक है। यह केवल तभी सम्भव है यदि उस व्यक्ति ने इसी जन्म में विवशता के कारण म्लेच्छ बनना स्वीकार किया है। यदि पूर्वजों से म्लेच्छ हो चुका है, दूषित रक्त से जन्म हुआ है, तब । वह सदाचारी बने"कोई उपाय नहीं", अगला जन्म लेकर पुनः वर्णाश्रम में स्थान पाये। जिसे मेरा समर्थन करना है, करे, जिसे मेरा विरोध करना है, करे। किन्तु जिन महर्षि देवल का नाम लेकर लोग शुद्धिकरण और घर वापसी की बात करते हैं, वे भी केवल इसी जन्म में विवशता के कारण म्लेच्छग्रस्त जनों की शुद्धि करने कहते हैं, दूषित वीर्य से जन्मे पीढ़ियों के असंस्कृत म्लेच्छजन की शुद्धि और इच्छानुसार वर्ण में स्थान तो नहीं मिल सकता है। आज लोगों को इसका दुष्प्रभाव नहीं समझ आ रहा है, कुछ दशकों के बाद सम्भवतः समझ में आ जाये।

मान लीजिये कि मैंने ब्राह्मण होकर भी, अपने पूर्वजों के द्वारा आचरित गायत्री यज्ञोपवीत आदि को छोड़ दिया है, तो मैं वर्णच्युत होने लगूंगा। मेरी सन्तान भी वेदोक्त संस्कार से हीन होने लगेगी। और एक दो पीढ़ी के बाद हम भी दूषित हो जाएंगे। दूषित रक्त का अर्थ केवल मुसलमान नहीं, आचारभ्रष्ट व्यक्ति ही दूषित है। इस जन्म में शुद्धि इसीलिए हो सकती है क्योंकि आप विवशता से म्लेच्छ बने और शीघ्र ही वापस आ गए। किन्तु जब पूर्वज म्लेच्छ बने, तो उनकी शुद्धि हुए बिना अन्य सन्तान उत्पन्न हुए, जो सर्वथा वर्णहीन और दूषित रहे, फिर उन्होंने अपने ही समान दूषित विवाह आदि करके और भी सन्तान उत्पन्न की। मैं यह नहीं कह रहा कि आप सनातनी नहीं बन सकते, मैं बस ये कह रहा हूँ कि पूर्वोक्त वर्ण

में स्थान नहीं मिल सकता। उनके गर्भजन्य सन्तान की शुद्धि नहीं हो सकती, यह देवल ऋषि का ही मत है। आप पाकिस्तान और बांग्लादेश की बात करते हैं कि हम सब कुछ खो देंगे। अजी, सरयू में कामक्रीड़ा करने वाला व्यक्ति भी स्वयं को सनातनी ही मानता है। और तो और पुराणों को गाली देने वाला आर्य समाजी भी स्वयं को सनातनी ही मानता है। सनातनी दोनों में भेद है। शास्त्रीय नियमों की अवहेलना करके केवल फॉर्म के रिलीजन में "होना" और सनातनी "मानना" हिन्दू भरवा कर आप खुश हैं, तो रहिये। इतना हिन्दू तो रावण भी था ही। रोज पूजा पाठ करता था।

प्रश्नकर्ता कर्म और भाग्य में कौन बड़ा है -? क्या कर्म से भाग्य को बदला जा सकता है ?

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु समुल्लसित शास्त्रप्रामाण्य के आधार पर इसका अभिमत मैंने बहुत पहले ही इस प्रकार -से लिख दिया था -

पुरुषार्थञ्च भाग्यञ्च द्वे चक्रे चैव निश्चिते।
वहतः साम्यभावेन रथं जीवनरूपिणम्॥
भाग्यं तु सर्वथा लोके पुरुषार्थे समाश्रितम्।
बलाबलेन भाग्यस्य पुरुषार्थं प्रभावितम्॥
यथैकेनैव चक्रेण नैवापसरते रथम्।
का वार्ता लोकयात्राया विना भाग्यं परेण वा॥
उभयोश्चक्रयोर्मध्ये वामदक्षिणभेदतः।
जीवनेऽपि च तद्विद्धि यदस्ति सुमहत्तरम्॥
(दिव्यास्त्रविमर्शिनी, श्लोक (५०-४७ -

पुरुषार्थ ये दो चक्र निश्चित हैं जो समानरूप से जीवनरूपी रथ को चलाते हैं। इस संसार में भाग्य (प्रारब्ध) एवं भाग्य (कर्म) सर्वथा पुरुषार्थ पर आश्रित है और भाग्य के बलाबल के कारण पुरुषार्थ भी प्रभावित होता है। जैसे एक ही चक्के के आधार पर रथ नहीं चल सकता, ऐसे ही केवल भाग्य या केवल पुरुषार्थ के आधार पर सांसारिक जीवन की क्या बात करें ? रथ के दाहिने और बायें चक्के में जो अधिक महत्त्वपूर्ण हो, जीवन में भाग्य और पुरुषार्थ के मध्य भी ऐसे ही बड़ा जानो अर्थात्), दोनों ही समान हैं।(

अब इसका विस्तार करते हैं। कुछ लोग कर्मवादी हैं, कहते हैं कि हम अपने कर्म के आधार पर कुछ भी पाते या खोते हैं। किन्तु इस प्रकार के कर्मवाद में यह समस्या है कि प्रत्यक्ष में समान परिश्रम करने वाले सभी जनों को समान फल की तात्कालिक सिद्धि होते हुए नहीं दिखती। कुछ लोग भाग्यवादी हैं, कहते हैं कि हमारे भाग्य में जो लिखा है, वह होकर ही रहता है। किन्तु इस प्रकार के भाग्यवाद में यह समस्या है कि कर्मस्वातन्त्र्य खण्डित होता है। जब सब भाग्य ही करेगा, हमारा कोई नियन्त्रण नहीं, तो हमें दुःख क्यों, सुख क्यों ?

मैं न इस शैली का कर्मवादी हूँ और न भाग्यवादी। मैं शास्त्रवादी हूँ अतएव मुझे समझ में आता है कि वस्तुतः समस्या यहीं है। जब मैं आपसे पूछूँ कि आप को क्या पसन्द है, फल या आम ? तो आप सोचेंगे, ये क्या बात हुई ? भाई, आम भी तो फल ही है, फलों के अनेक प्रकारों में आम भी तो एक प्रकार है। तो बन्धु, भाग्य भी कर्म का ही एक प्रकार है। शास्त्र कहते हैं -

कर्मापि द्विविधं ज्ञेयं क्रियमाणं तथा कृतम्।
(ब्रह्मपुराण, अध्याय (१७३ -

कर्म को भी दो प्रकार का जानना चाहिए, क्रियमाण कर्म एवं कृत कर्म। क्रियमाण का अर्थ, जो हम कर रहे हैं। कृत का अर्थ, जो हम कर चुके। समस्या यह है कि जब कर्म और भाग्य का विषय आता है तो लोग सोचते हैं कि कर्म का अर्थ है, जो हम कर रहे हैं, क्रियमाण। वे कर्म के दूसरे प्रकार, कृत का चिन्तन ही नहीं करते। कृत कर्म ही भाग्य कहलाता है। इसे थोड़ा और स्पष्ट करते हैं, शिवपुराण का वचन है -

कर्म च त्रिविधं प्रोक्तं कर्मकाण्डे महेश्वरि।
सञ्चितं क्रियमाणं च प्रारब्धं चेति बन्धकृत्॥
पूर्वजन्मसमुद्भूतं सञ्चितं समुदाहृतम्।
भुज्यते च शरीरेण प्रारब्धं परिकीर्तितम्॥
अनेन जन्मना यच्च क्रियते कर्म साम्प्रतम्।
शुभाशुभञ्च देवेशि क्रियमाणं विदुर्बुधाः॥
प्रारब्धकर्मणो भोगात्क्षयश्चैव न चान्यथा।
उपायेन द्वयोर्नाशः कर्मणोः पूजनादिना॥
(शिवपुराण, कोटिरुद्रसंहिता, अध्याय (२३ -

अर्थात् कर्मकाण्ड में तीन ! हे महेश्वरि - प्रकार के बन्धनकारी कर्म बताये गये हैं सञ्चित -, क्रियमाण एवं प्रारब्ध। जो पूर्वजन्म की क्रिया से उत्पन्न होता है, उसे सञ्चित कर्म कहते हैं। वही कर्म जब इस वर्तमान शरीर के द्वारा भोगा जाने लगता है तो प्रारब्ध कहलाता है। इस जन्म में वर्तमान में (दैव/भाग्य) जो शुभ या अशुभ कर्म किया जाता है, उसे हे देवताओं की स्वामिनि केवल भोगने से ही समाप्त (भाग्य) बुद्धिमान् जन क्रियमाण कर्म के नाम से जानते हैं। प्रारब्धकर्म ! होता है, अन्यथा नहीं। हां (सामान्यतः), दोनों प्रकार का कर्म पू (प्रारब्ध+सञ्चित- क्रियमाण एवं कृत)जा आदि उपायों से नष्ट हो जाता है।

भगवान् श्रीरामचन्द्र कहते हैं -

बुद्धिपूर्वं कृतं कर्म भोगेनैव विनश्यति।
नश्येदनुशयादन्यदिदं शास्त्रविनिश्चितम्॥
(पद्मपुराण, पातालखण्ड, अध्याय (०८ -

अर्थात् कर्म दो प्रकार से किया जाता है। एक तो जानबूझकर और दूसरा अनजा -ने से। जो जानबूझकर किया गया कर्म है, वह तो भोगने से ही नष्ट होगा और जो दूसरा, अनजाने से किया गया कर्म है, वह 'अनुशय' से नष्ट होता है।

अनुशय क्या है ? पश्चातापादिकारणाद्विप्रतिपत्तिरनुशयः। किये गये अशुभ कर्म की ग्लानि होने पर व्यक्ति जो पश्चाताप करते हुए प्रायश्चित्त आदि का कष्ट सहन करता है, वह अनुशय कहलाता है।

बात ऐसी है कि आप जो धन कमा रहे हैं, वह क्रियमाण है। जो बैंक में जमा कर दिया, वह सञ्चित है। उसी सञ्चित को जब भोगने लगे तो वह प्रारब्ध अथवा भाग्य है। किया धरा आपका ही है। कमाकर तुरन्त खर्च किया, कर्म करके तुरन्त भोग लिया, तो कर्म का फल प्रत्यक्ष हुआ, क्रियमाण कहलाया। किसी और शरीर का किया गया कर्म किसी और शरीर में भोगा तो वह प्रारब्ध या भाग्य कहलाया। लेकिन किया है, तो भोगना पड़ेगा। चाहे आप देवता हों "ही", चाहे असुर हों, चाहे मनुष्य हों, चाहे आप बलवान् हो अथवा दुर्बल हों, थोड़ा किये हों या बहुत किये हों, उससे मतलब नहीं। भगवान् वेदव्यास जी कहते हैं -

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥
बलिष्ठैर्दुर्बलैर्वापि स्वल्पं वा बहु वा कृतम्।

सर्वथैव हि भोक्तव्यं सदेवासुरमानुषैः॥
(श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, स्कन्ध ०६ -, अध्याय (०७ -

शुभ और अशुभ कर्म, थोड़ा या अधिक हो, दुर्बल या बलवान् किसी के द्वारा भी किया गया हो, देवता, राक्षस और मनुष्य, सबके द्वारा सर्वथा भोगा ही जाता है। आगे कहते हैं ये नहीं कि केवल अच्छा या केवल बुरा। शुभ और अशुभ दोनों। जैसा - करोगे, वैसा भरोगे। सीधी बात। बिना भोगे तो भैया, गुजारा नहीं है।

यादृशं कुरुते कर्म तादृशं फलमाप्नुयात्।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥
(श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, स्कन्ध ०६ -, अध्याय (०९ -

प्रारब्धकर्मणां भोगादन्यथा न क्षयो भवेत्।
(श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, स्कन्ध ०७ -, अध्याय (१२ -

कृतकर्मक्षयो नास्ति कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥
केवलं चाशुभं कर्म नरकाय भवेदिह।
शुभं स्वर्गाय जायेत द्वाभ्यां मानुष्यमीरितम्॥
(शिवपुराण, कोटिरुद्रसंहिता, अध्याय (२३ -

हां, यदि केवल अशुभ अशुभ कर्म ही करोगे जो उसका कर्मफल नरक में भोगना पड़ेगा। यदि केवल शुभ शुभ ही करोगे तो स्वर्ग में भोगना पड़ेगा और मिलाजुलाकर करोगे तो मनुष्यलोक में यथोचित भोगना पड़ेगा।

अब कोई कहे कि एक ही जन्म में सब निपटाओ। इस जन्म का उस जन्म में क्यों फल दे रहे हो ? तो भाई, शरीर क्या है ? शरीर अधिष्ठान है। आत्मा का एक प्रकार से घर समझो। अज़मल कसाब ने ताज होटल में हत्या की तो उसी दिन उसी स्थान पर उसे दण्ड क्यों नहीं दिया गया ? ये क्या बात हुई कि कर्म किसी और दिन, किसी अन्य स्थान पर किया और उसका दण्ड किसी और दिन, किसी अन्य स्थान पर मिले ? तो ऐसा नहीं होता। समय, स्थान, शरीर के परिवर्तन से कर्म में परिवर्तन नहीं आता। भगवान् शिव चन्द्रदेव को बिल्कुल स्पष्ट समझाते हैं -

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥
देहत्यागेन हे वत्स कर्मभोगो न नश्यति।
प्रायश्चित्तान्न सन्देहो ह्यस्तमेव भविष्यति॥
(ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, अध्याय (८१ -

जो शुभ या अशुभ कर्म है, वह अवश्य ही भोगना पड़ेगा। बिना भोगे तो करोड़ों कल्पों में भी वह समाप्त नहीं होगा। हे वत्स देह के परित्याग से कर्मभोग का नाश कदापि नहीं होता। हा !ं, प्रायश्चित्त से कर्मभोग अस्त जाता है हो (क्षीण), इसमें सन्देह नहीं है। अब ऐसा क्यों है ? ऐसा इसीलिए है कि सामान्यतया जिस अवस्था में जो कर्म किया जाता है, वह उसी अवस्था में फल देता है।

यस्यां यस्यामवस्थायां यत्करोति शुभाशुभम्।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्तत्फलमुपाश्नुते॥
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण, तृतीय खण्ड(

अब अवस्था से क्या तात्पर्य ? अवस्था दो है। एक तो शरीर की अवस्था और दूसरी देशपरिस्थिति की अवस्था। मान -काल- लो कि किसी व्यक्ति ने गर्भपात कराया, फलस्वरूप अगले जन्म में निःसन्तान होने का दण्ड मिला। तो गर्भपात इसने युवावस्था में ही कराया, बच्चे और बूढ़े का तो हो नहीं सकता। अगले जन्म में जब उसकी युवावस्था आयेगी तो उसका दण्ड भी मिलेगा। बचपन में थोड़े ही मिलेगा, उस समय तो सन्तानपरक प्रसङ्ग ही नहीं है। अब पारिस्थितिक अवस्था की बात करते हैं। किसी व्यक्ति ने अपने वृद्ध माता पिता को घर से निकाल दिया तो फलस्वरूप अगले जन्म में वह माता पिता इसकी ही सन्तान बनकर आयेंगे और इसकी वृद्धावस्था में इसे भी निकालेंगे। इसीलिए तो शिवजी ने कहा कि बन्धकृत्, ये कर्म बन्धनकारी है। करते जाओ और भोगते जाओ, निरन्तर चक्र में फंसे रहो।

बालो युवा च वृद्धश्च यः करोति शुभाशुभम्।
तस्यां तस्यामवस्थायां भुङ्क्ते जन्मनि जन्मनि॥
(गरुडपुराण, आचारकाण्ड, अध्याय ११३ -, श्लोक (३० -

हां, विधिपूर्वक तीर्थसेवन, देवाराधन आदि से अशुभ प्रारब्ध को कुछ क्षीण किया जा सकता है, कुछ राहत हो जायेगी, यद्यपि मैं समझता हूँ कि बिल्कुल ही समाप्त तो नहीं कर सकते। जानबूझकर किये गए पाप के फलस्वरूप हाथ कटने का दण्ड होगा, तो प्रायश्चित्त आदि से कुछ कमी होगी और हाथ टूट कर रह जायेगा, दो महीने कष्ट देगा। अज्ञात पाप हो तो सर्वथा नष्ट हो जाएगा। जानबूझकर किये गये पाप में अधिक समस्या होती है।

तीर्थानां च सुराणां च सहायेन नृणामपि।
किञ्चिद्भवति साहाय्यं कायव्यूहेन सर्वतः॥

फिर आगे कहते हैं -

न नष्टं दुष्कृतं कर्म सुकृतेन च कर्मणा।
न नष्टं सुकृतं कर्म कृतेन दुष्कृतेन च॥
(ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, अध्याय (८५ -

इसी बात का समर्थन पितामह भीष्म भी करते हैं -
एतैर्विज्ञायते सर्वं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
तीर्थयात्राफलैस्तस्य ततः शुद्धिः प्रजायते॥
(स्कन्दपुराण, नागरखण्ड, अध्याय (२२६ -

किसी व्यक्ति ने पचास बुरे काम किये हों और पचास अच्छे काम किये हों तो अच्छे काम से बुरे नष्ट नहीं होते और बुरे काम से अच्छे नष्ट नहीं होते। दोनों का पृथक् फल मिलता है। अब जैसे मैं अपना ही उदाहरण देता हूँ। जब मैं क्षत्रिय योनि में था तो किसी कारणवश युद्ध में अपने सहोदर अनुज का वध कर दिया था। यद्यपि वध करना प्रजाहित में था किन्तु परिस्थितियों के आधार पर शास्त्रोक्त युद्धनीति के विरुद्ध था। फलस्वरूप, उस पारिस्थितिक विश्वासघात के कारण इस जन्म में मुझे श्वासकास कफ आदि की समस्या हुई और मैं अपना कर्मफल भोग रहा हूँ। वहीं-, यथोचित प्रजापालन और स्ववर्णानुसार धर्माचरण के फलस्वरूप इस जन्म में वर्णोन्नति मिली, जैसा कि छान्दोग्य श्रुति कहती भी है, और मैं ब्राह्मण योनि में आया, चार वर्ष की दैहिक अवस्था से ही शास्त्रीय दृष्टि से सम्पन्न होकर व्यासपीठ पर आरूढ़ हुआ। शुभ और अशुभ दोनों सामने है।

कर्म कब किया, कहाँ किया, किस शरीर में किया ? २००० वर्ष पूर्व मध्य प्रदेश तब क)ा मालवामें क्षत्रिय शरीर से किया। (और कर्मफल? मेरा उस समय का क्रियमाण शुभाशुभ कर्म २००० वर्ष तक सञ्चित हुआ, जिसे अब जाकर मैं झारखण्ड में

ब्राह्मण शरीर में भाग्य रूप से भोग रहा हूँ। यह सब भगवान् सूर्य की कृपा से हस्तामलकवत् स्मरण है। मिर्च की फसल दो तीन महीने में फल दे देती है। आम की फसल में समय लगता है। जब कर्म उचित फलप्रदान की परिस्थितियों से युक्त होगा, तभी फलित होगा। वर्तमान के जो पापी सुखी हैं, वे पूर्वकृत पुण्य के कारण हैं। वर्तमान के जो पुण्यात्मा दुःखी हैं, वे पूर्वकृत पाप के कारण हैं। मैंने अपना उदाहरण इसीलिए दिया क्योंकि ज्ञान दो प्रकार से होता है। एक तो शास्त्रवाक्य से, दूसरा अनुभव से। अनुभव का अर्थ शास्त्रहीन कुतर्क करके नहीं), शास्त्राचार के आधार पर स्वानुभूतश्रीमद्देवीभागवत (- महापुराण में कहते हैं

ज्ञानं तु द्विविधं प्रोक्तं शाब्दिकं प्रथमं स्मृतम् ।
वेदशास्त्रार्थविज्ञानात्तद्भवेद्बुद्धियोगतः॥

और फिर आगे कहा दुर्लभं नृप॥अनुभवाख्यं द्वितीयं तु ज्ञानं तद् -

लोग मुझसे पूछते हैं, क्या स्वर्ग सच में है, क्या नरक सच में है ? मैं क्या कहता हूँ, कि यदि ये प्रश्न आया है, अर्थात् अविश्वास है। यदि मैं कहूँ कि यह सब सच में है, किन्तु स्थूल जगत् में नहीं, सूक्ष्म आयाम में है, तो ये विश्वास करेगा नहीं। यदि मैं कहूँ कि ये सब नहीं हैं, तो कहते बनेगा ही नहीं क्योंकि मैंने स्वयं देखा है। इसी जन्म में, इन्हीं चमड़े की आंखों से बिल्कुल प्रत्यक्ष न्यूनतम पांच प्रेतों को तो मैंने देखा भी है, बात भी की है, उनके मोक्ष हेतु गीतापाठ आदि किया भी है, तो कैसे कह दूँ कि 'नहीं है'। अतएव मैं उत्तर देता हूँ, आप मृत्यु के बाद स्वयं जान जायेंगे, किन्तु तब आपके नियन्त्रण में कुछ होगा नहीं।

महामना वसुदेव जी कहते हैं -

प्रारब्धानि च जीवेन भोक्तव्यानि सुलोचने।
प्रायश्चित्तेन नश्यन्ति वर्तमानानि भामिनि॥
सञ्चितानि तथैवाशु यथार्थं विहितेन च।
प्रारब्धकर्मणां भोगात्सङ्क्षयो नान्यथा भवेत्॥
(श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, स्कन्ध ०४ -, अध्याय (२१ -

हे सुन्दर नेत्रों वाली देवकी जीव को !प्रारब्ध तो भोगना ही पड़ता है। हां, वर्तमान वाले तो प्रायश्चित्त से नष्ट हो जाते हैं, साथ ही विहित प्रायश्चित्त से सञ्चित भी तत्काल नष्ट हो जाता है किन्तु अन्य किसी (प्रायश्चित्त अथवा भोग के अतिरिक्त) उपाय से प्रारब्धकर्म का क्षय नहीं होता है। भगवान् अगस्त्य बताते हैं -

अज्ञानाज्ज्ञानतो वापि यत्किञ्चिद्दुष्कृतं भवेत्।
प्रायश्चित्तं विधातव्यं तन्नाशाय प्रयत्नतः॥
प्रायश्चित्तेन विधिना पापं तस्य प्रणश्यति।
तस्मादत्र प्रकर्त्तव्यं प्रायश्चित्तं विधानतः॥
(स्कन्दपुराण, वैष्णवखण्ड, अयोध्यामाहात्म्य, अध्याय ०४ -, श्लोक (२५-२४ -

अनजाने से अथवा जानबूझकर, जो कुछ भी पाप किया जाता है, उसके नाश हेतु प्रयत्नपूर्वक प्रायश्चित्त करना चाहिए। प्रायश्चित्त की विधि से उसका पाप नष्ट होता है, इसीलिए विधानपूर्वक प्रायश्चित्त करना चाहिए।

प्रायश्चित्त का अर्थ मात्र अनुष्ठान करना नहीं, पश्चाताप भी उसमें होना चाहिए, पुनः न करूँ, ऐसी दृढता भी होनी चाहिए, तभी पाप से शुद्धि होगी।

प्रायश्चित्तेन पापस्य शुद्धिर्भवति सर्वदा।
(श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, स्कन्ध ०४ -, अध्याय (२० -

या तो व्यक्ति अपने किये गये कर्म को भोग ले, अथवा प्रायश्चित्त कर ले अथवा उसे ब्रह्मज्ञान हो जाये, तभी वह कर्मप्रारब्ध से मुक्त हो सकता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र का भाव है प्रागर्जितानि कर्माणि प्रायश्चित्तेन ज्ञानेन वा दह्यन्त इत्युच्यते। -

इसी बात को अन्य ग्रन्थ भी कहते हैं -

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥
(श्रीमद्भागवतमहापुराण, स्कन्ध ०१ -, अध्याय - ०२०

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥
(श्रीमद्भागवतपुराण, स्कन्ध अध्याय ११ -- २०(

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।
(योगवासिष्ठ महारामायण, उत्पत्तिप्रकरण, सर्ग ०७ -, श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, स्कन्ध ०७ -, अध्याय ३६ -, मुण्डकोपनिषत्, सरस्वतीरहस्योपनिषत्, योगशिखोपनिषत् आदि(

ब्रह्मज्ञान के बाद जीवात्मा देहाभिमान से रहित पाशमुक्त होकर परमेश्वर से अभिन्न हो जाता है। और योगस "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः"ूत्र के अनुसार ईश्वर कर्मविपाक से परे हैं, फलतः परमात्मतत्त्व के दर्शन से चेतन तद्रूप हो तल्लक्षणान्वित हो जाता है, ऐसा समझना चाहिए। इसी बात का उपदेश भगवान् श्री शङ्कराचार्य जी ने 'अपरोक्षानुभूति' ग्रन्थ में किया है।

हां, एक बात ध्यातव्य है कि हठपूर्वक अधर्म न करें, अज्ञात या परिस्थितिवश हो जाये, तो उसका समर्थन या उसकी वकालत न करते हुए विधिसम्मत और पश्चातापपूर्वक प्रायश्चित्त करें। निरन्तर अपने शास्त्रोक्त इष्ट मुख्यतः भगवान् विष्णु), शिव, सूर्य, गणपति एवं दुर्गा अथवा इनके शास्त्रोक्त अवतारोंके नाम का स् (मरण करते हुए द्वेषरहित हो, अपने कर्म का समर्पण इन्हें करते रहें तो कर्मफल बाधित नहीं करेगा। कर्म और भाग्य दोनों अभिन्न हैं। क्रियमाण कर्म ही सञ्चित होकर भाग्य बन जाता है।

प्रश्नकर्ता सिद्धियाँ क्या है ? क्या सिद्धियों से आध्यात्मिक हानि होती है ?

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु साधनात् सिद्धिरित्युक्ता। देवीपुराण में कहते हैं -, साधनभूता होने से इसे सिद्धि कहते हैं। सिद्धि क्या है ? किसी भी इच्छा को अविलम्ब साकार करने का जो असामान्य साधन है, वह सिद्धि है। ऐसी प्रत्येक उपलब्धि जो सामान्य क्रिया से सामान्य जनों को सुलभ न हो, वह एक प्रकार की सिद्धि ही समझनी चाहिए। प्रधानतः आठ प्रकार की सिद्धियाँ होती हैं जिनका विस्तृत वर्णन योग सम्बन्धी ग्रन्थों में मिलता है। मार्कण्डेयपुराण आदि में दत्तात्रेय भगवान् ने भी बताया है। अस्तु, उनके नाम भगवान् वायु ने इस प्रकार बताये हैं -

अणिमा लघिमा चैव महिमा प्राप्तिरेव च।
प्राकाम्यञ्चैव सर्वत्र ईशित्वञ्चैव सर्वतः॥
वशित्वमथ सर्वत्र यत्र कामावसायिता।
तच्चापि विविधं ज्ञेयमैश्वर्यं सर्वकामिकम्॥

(वायुपुराण, पूर्वभाग, अध्याय १३ -, श्लोक (०४-०३ -

सामान्यतः इनके नाम हैं अणिमा -, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामावसायिता। आंशिक नामभेद के साथ अन्य ग्रन्थ भी इसका समर्थन करते हैं -

अणिमा महिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं लघिमा तथा।
ईशित्वञ्च वशित्वञ्च यत्र कामावसायिता॥
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण, प्रथम खण्ड(

अणिमा लघिमा व्याप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा।
ईशित्वं च वशित्वं च तथा कामावसायिता॥
(नारद पाञ्चरात्र, प्रथम रात्र, अध्याय ०१ -, श्लोक (४९ -

अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा।
ईशिता वशिता चैवाष्टमी कामावसायिता॥
(स्कन्दपुराण, वैष्णवखण्ड, अध्याय (२७ -

श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव जी को मुख्य और गौण मिलाकर कुल अठारह प्रकार की सिद्धियाँ बतायी हैं -

सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारणा योगपारगैः।
तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुणहेतवः॥
अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः।
प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता॥
गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति।
एता मे सिद्धयः सौम्य अष्टावौत्पत्तिका मताः॥
अनूर्मिमत्त्वं देहेऽस्मिन्दूरश्रवणदर्शनम्।
मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम्॥
स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडानुदर्शनम्।
यथासङ्कल्पसंसिद्धिराज्ञाप्रतिहता गतिः॥
त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता।
अग्न्यर्काम्बुविषादीनां प्रतिष्टम्भोऽपराजयः॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण, स्कन्ध ११ -, अध्याय (१५ -

अर्थात्, अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशिता, वशिता, कामावसायिता, भूखप्यास पर नियन्त्रण-, दूरस्थल की बातों को बैठे बैठे सुनना और देखना, इच्छानुसार स्वरूप बना लेना, परकाया प्रवेश, इच्छानुसार मृत्यु, देवताओं का दर्शन और उनके साथ विहार, जो मन में इच्छा हो उसे पूरा कर लेना, किसी को भी आदेश देकर अपने मन का काम करा लेना, त्रिकालदर्शी होना, मानसिक प्रसन्नता और शत्रुहीन होना, दूसरे के मन की बात जान लेना, अग्निविष आदि से अप्रभावित रहना-जल-, कभी पराजित नहीं होना, आदि अनेकों सिद्धियाँ योगियों को सुलभ होती हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में कुछ भेद के साथ इनके नाम आये हैं -
अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा।
ईशित्वञ्च वशित्वञ्च सर्वकामावसायिता॥

सर्वज्ञदूरश्रवणं परकायप्रवेशनम्।
वाक्सिद्धिः कल्पवृक्षत्वं स्रष्टुसंहर्तुमीशता।
अमरत्वञ्च सर्वाङ्गं सिद्धयोऽष्टादश स्मृताः॥

अब इन प्रधान अणिमादि अष्टसिद्धियों का कार्य क्या है ? भगवान् श्री शङ्कराचार्य कहते हैं -

अणिमा क्षणमात्रेण अतिसूक्ष्मभावः। महिमा महतो भावः। लघ्वी लाघवम्। गरिमा गुरोर्भावः, जडतरपर्वतादिवत् भारवशेनाप्रकम्पितत्वमित्यर्थः। क्षणमात्रेण विराडाकृतिमत्त्वं प्राप्तिः। हस्तेन चन्द्रमण्डलादिस्पर्शः ईशिता, इन्द्रादीनामपि प्रेरकता। प्राकाम्यम् अप्रतिहतकामनावत्त्वम्, वाञ्छितार्थफलप्राप्तिरित्यर्थः। वशित्वं सर्वलोकवशीकरणसामर्थ्यम्। यत्र कामाः परागताः काम्यन्त इति कामाः विषयाः यत्र यस्मिन् ऐश्वर्ये सति परागताः बहिर्भूता भवन्ति, विषयाणामनुभवाभावेऽपि तज्जन्यसुखवत्वम् आप्तकामत्वमित्यर्थः। एता अष्टसिद्धयः।
(ललितात्रिशतीभाष्य(

अणिमा से क्षणमात्र में अत्यन्त छोटा हो जाता है, महिमा से बड़ा हो जाता है, लघिमा से हल्का हो जाता है, गरिमा से जड़ पर्वतों की भांति अकम्पित होने हेतु भारी हो जाता है। प्राप्ति से क्षणमात्र में ही अत्यन्त विस्तृत शरीर धारण कर लेता है। ईशिता से चन्द्रमण्डल आदि तक वह स्पर्श कर सकता है, इन्द्र आदि देवताओं को भी इच्छानुसार प्रेरित कर सकता है। प्राकाम्य से जो कामना हो, उस अभीष्ट की प्राप्त कर सकता है। वशित्व से सभी लोकों का वशीकरण कर सकता है। कामावसायिता से जहाँ भोग्य ऐश्वर्य का सर्वथा अभाव हो, वहां असमय ही उसका उपभोग कर सकता है जैसे समुद्र के मध्य) में आम की प्राप्ति अथवा रेगिस्तान में बर्फ के गोलेआदि (, ये अष्टसिद्धियाँ हैं।

इन सिद्धियों की प्राप्ति विभिन्न प्रकार से हो जाती है। किसी की सेवा से प्रसन्न होकर सिद्ध गुरु प्रदान कर देते हैं जैसे) तो कोई तान्त्रिक (विश्वामित्र जी ने बला और अतिबला श्रीरामजी को दी, मान्त्रिक विधि से किसी देवता को प्रसन्न करके उनसे वरदान में मांग लेता है जैसे) प्त कर लेता है। कोई योगमार्ग से स्वयं उन्हें प्रा(जैसे शुक्राचार्य जी ने मृतसञ्जीवनी) जैसे महाभारत के समय सञ्जय की) तो किसी किसी में किसी कार्यगौरव से अस्थायी स्थापना होती है (ऋषि दधीचि आदि ।(दिव्यदृष्टि

सिद्धियाँ पतन या उत्थान नहीं कराती हैं। साधक की वृत्ति ही प्रधान है। सिद्धि कालनेमि के पास भी थी और हनुमानजी के पास भी। बन्दूक सैनिक के पास भी है और आतंकवादी के पास भी है। बन्दूक रक्षा या हत्या नहीं करती। सनातन धर्म में गोलियों और बन्दूकों को लानत भेजने की परिपाटी नहीं है। यहाँ साधन नहीं, साधक को दण्ड या पुरस्कार मिलता है। यह तो प्रयोक्ता पर निर्भर है कि वह साधन का प्रयोग किस उद्देश्य से करता है क्योंकि सिद्धि की परिभाषा में ही साधन निहित है।

तुलसीदास जी में गुण था तो उन्होंने प्रेत के माध्यम से भगवान् को पा लिया। आचार्य पाणिनि को २८ दिनों में भगवान् शिव मिल गये, उनकी सिद्धि सार्थक हुई। भस्मासुर को ७ दिन में ही मिल गये, उसमें वो गुण नहीं था तो स्वयं शिवजी से प्राप्त उसकी सिद्धि उसके विनाश का कारण बन गयी। सिद्धि का प्रयोग कब करना है, कैसे करना है, इससे अधिक महत्वपूर्ण है यह जानना, कि कब नहीं करना है और कैसे नहीं करना है। सिद्धि मिलना सरल है, सम्भालना कठिन, इसीलिए बुद्धिमान् जन इसपर अधिक आसक्त नहीं होते। हाँ, सिद्धियों के आने से भटकने की सम्भावना अवश्य बढ़ जाती है। प्रभुत्व का मद आब्रह्मकीटपर्यन्त सबों को किसी न किसी रूप में होता ही है, अतएव सिद्धि के बाद सतर्कता आवश्यक है।

प्रश्नकर्ता प्याज खाना चाहिए अथवा नहीं-लहसुन -? श्री बागेश्वर धाम सरकार एवं श्री अनिरुद्धाचार्य जी महाराज ने इस सन्दर्भ में परस्पर विरोधी वक्तव्य दिये हैं, कृपया समाधान करें।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु "क्या हो रहा है" - समाज दो दृष्टिकोण से बनता है। एक तो -, दूसरा, "क्या होना चाहिये। " "हो रहा है" जो, उसमें युग और परिवेश की प्राधान्यता होती है। जो "होना चाहिये", उसमें शास्त्र की प्राधान्यता होती है। युग एवं परिवेश परिवर्तनशील होने से कभी उन्नति तो कभी अवनति का कारण बनते हैं किन्तु शास्त्र अपरिवर्तनीय एवं कालातीत होने से स्वानुगामी को सदैव उन्नत ही करते हैं। भगवान् श्री रामानुजाचार्य जी कहते हैं आहारोऽपि सर्वस्य - जातस्य सत्त्वादिगप्राणिुणत्रयान्वयेन त्रिविधः प्रियो भवति।

प्रत्येक प्राणी के अपने पूर्व संस्कार एवं परिवेश के आधार पर सात्विक (श्रेष्ठ), राजस (निकृष्ट) एवं तामस (सामान्य), ऐसे तीन प्रकार के आहार की अभिरुचि होती है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा त्रिविधो भवति पआहारस्त्वपि सर्वस्य -्रियः।

आचार्य मधुसूदन सरस्वती जी कहते हैं आहारोऽपि सर्वस्य प्रियस्त्रिविध एव भवति। -

केवल मेरा नहीं, आपका नहीं, अपितु 'सर्वस्य' ... सबों का सभी देहधारियों का। उसमें जो तामसी आहार है ..., उसके लक्षण में कहते हैं -

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितञ्च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥
(श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय (१७ -

इसमें 'पूति' लक्षण वाले आहार को तामसी जनों का प्रिय बताया गया है। इसका समर्थन कल्किपुराण भी करता है।

पूतिपर्युषितं ज्ञेयं भोजनं तामसप्रियम्॥
(कल्किपुराण(

अब पूति का क्या अर्थ है ? जिसमें दुर्गन्ध हो आचार्य धनपति इसमें और स्पष्ट करते (रामानुजभाष्य) पूतिदुर्गन्धोपेतम् - हुए कहते हैं, किस प्रकार का दुर्गन्ध ? जैसा लहसुन प्याज में है, उस प्रकार का। पूतिर्दुर्गन्धि लशुनपलाण्ड्वादि।(धनपतिव्याख्या)

किसी भी कृत्याकृत्य या भक्ष्याभक्ष्य के निर्धारण में सर्वथा शास्त्र और ऋषिवाक्य ही परम प्रमाण होते हैं। प्रमाणक्रम में हम देखते हैं कि उस विषय में वेद भगवान् क्या कहते हैं ?

मद्यं मांसं च लशुनं पलाण्डुं शिग्रुमेव च।
श्लेष्मातकं विड्वराहमभक्ष्यं वर्जयेन्नरः॥
(रुद्राक्षजाबालोपनिषत्(

इस प्रकार वेद ने निषेध किया। अब उसके बाद स्मृति का स्थान आता है, उन्होंने भी मना किया है।

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च।
अभक्ष्याणि द्विजातीनां अमेध्यप्रभवानि च॥
(मनुस्मृति, पञ्चम अध्याय(

पलाण्डुं विड्वराहं च छत्राकं ग्रामकुक्कुटम्।
लशुनं गृञ्जनं चैव जग्ध्वा चान्द्रायणं चरेत्॥

(याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय(

अब इसके बाद कतिपय इतिहास- पुराण के प्रमाणों पर भी दृष्टि डालें-

मद्यं मांसं तु लशुनं पलाण्डुं शिग्रुमेव च।
श्लेष्मान्तकं विड्वराहं भक्षणे वर्जयेत्ततः॥
(शिवपुराण, विश्वेश्वरसंहिता, अध्याय (२५ -

मद्यं मांसं च लशुनं पलाण्डुं शिग्रुमेव च।
श्लेष्मातकं विड्वराहं भक्षणे वर्जयेत्ततः॥
(श्रीमद्देवीभागवतमहापुराण, स्कन्ध ११ -, अध्याय ०७ -, श्लोक (४० -

तुम्बकोशातकं चैव पलाण्डुं गृञ्जनं तथा।
छत्राकं लशुनं चैव भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥
(महाभारत, आश्वमेधिक पर्व(

पलाण्डुं लशुनं शुक्तं निर्यासं चैव वर्जयेत्।
(पद्मपुराण, स्वर्गखण्ड, अध्याय (५६ -

पलाण्डुं लशुनं शिग्रुमलाबुं गृञ्जनं पलम्।
भुङ्क्ते यो वै नरो ब्रह्मन् व्रतं चान्द्रायणं चरेत्॥
(पद्मपुराण, ब्रह्मखण्ड, अध्याय (१९ -

लशुनं गृञ्जनं चाद्यात्प्राजापत्यादिना शुचिः।
(अग्निपुराण, अध्याय (१६८ -

पलाण्डुं लशुनं चैव भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्।
(कूर्मपुराण(

भूस्तृणं लशुनं भुक्त्वा शिशुकं कृच्छ्रमाचरेत्।
(अग्निपुराण, अध्याय (१७३ -

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि लहसुन प्याज खाना केवल वर्जित ही नहीं, अपितु पतनकारी भी है क्योंकि अधोगच्छन्ति तामसाः । खाने पर कृच्छ्र(श्रीमद्भगवद्गीता), प्राजापत्य, चान्द्रायण आदि व्रतों का प्रायश्चित्त निर्देश भी है।

अब देखना यह है कि किसके लिए वर्जित है और किसके लिए नहीं ? तो प्रथम सात्विक मार्ग का आश्रय लेने वाले सभी लोगों के लिए निषिद्ध है। द्विजाति के लिये तो सर्वथा निषिद्ध है, शूद्रवर्ण को छूट है क्योंकि उनमें शास्त्रोक्त दृष्ट्या तमोगुण अधिक होता है। ब्राह्मण भी तमोगुणी हो जाये तो वह संस्कार और धृति की दृष्टि से शौद्रलक्षणापन्न होने लगता है। अन्न से रस, रस से वृत्ति, वृत्ति से क्रिया और क्रिया से संस्कार का निर्माण होता है अतएव उत्तम संस्कार हेतु सात्विक अन्न का आश्रय लेना चाहिए।

तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन है अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु - अन्नात् परिस्रुतो रसम्। मुण्डकोपनिषत् का कथन है - चामृतम्॥

शास्त्रीय सत्वबुद्धि से लहसुन प्याज का समर्थन नहीं किया जा सकता, कोई तमोबुद्धि से ग्रहण करना चाहे तो अलग बात है। आयुर्वेद के जिन कल्पों में रोगनिवारण हेतु शोधित रूप में लहसुन प्याज के सेवन का वर्णन है, वहाँ अपरिहार्य स्थिति में देहरक्षण हेतु कुशल चिकित्सक के कहने पर सविधि ग्रहण करना दोषकारक नहीं है, फिर भी स्वस्थ होने के अनन्तर यथासाध्य भूतशुद्धि एवं प्रायश्चित्त करना चाहिए।

प्रश्नकर्ता आदर्श पाण्डेय क्या देवदासी प्रथा पुराणों में है -, और क्या यह शास्त्र सम्मत है ?

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु बहुधा विधर्मी प्रथा शब्द को जोड़कर -नकारात्मक अर्थ लगाते हैं। जैसे सती एक पातिव्रत्य की चारित्रिक स्थिति है, अग्निप्रवेश स्वैच्छिक है, किन्तु उसे प्रथा शब्द लगाकर नकारात्मक अर्थ में प्रस्तुत किया गया।

देवमिन्द्रियं दास्नोति देवस्य परिचारिका देवदासी। यह शब्दकोषों का मत है। जो देवता की सेवा हेतु अपना शरीर समर्पित कर दे, वह देवदासी है। ध्यान रहे, "देवता की सेवाकदापि नहीं होता। कितने प्रकार "ब्राह्मणों के द्वारा व्यभिचार" अर्थ का " की दासी हैं? बताया दासी चतुर्विधा प्रोक्ता। चार प्रकार की दासियाँ हैं। कौन कौन -? ब्रह्माण्ड पुराण के उत्तरभाग ने कहा - देवदासी ब्रह्मदासी स्वतन्त्रा शूद्रदासिका।

देवताओं की सेवा करने वाली देवदासी जैसे कि श्रीमती मीराबाई), कर्माबाई आदि(, ब्राह्मणों या ब्रह्मवेत्ताओं की सेवा करने वाली ब्रह्मदासी (जैसे देवी शबरी आदि), स्वतन्त्ररूप से अपनी आजीविका के अनुसार सेवा करने वाली आजकल भी घरों में) सेवा करने वाले शूद्रों की स्त्रियां सामान्यतः) और चौथी शूद्रदासी (काम वाली बाई होती है, अथवा उनकी भी सेविकाएं।(

देवदासी पर चर्चा होती है तो शूद्रदासी पर क्यों नहीं ? मात्र ब्राह्मणों की निन्दा हेतु क्यों आरोप लगाया जाता है ? किस श्रुति, स्मृति, पुराण, तन्त्र आदि से यह सिद्ध है ? देवदासी तो देवताओं की सेवा करती है, ब्राह्मणों की नहीं, उनके लिए ब्रह्मदासी है। ब्रह्मदासी भी यौन शोषण हेतु थोड़े ही है। ऐसे तो स्वतन्त्रादासी, जो आपकी कामवाली बाई है, उसमें क्या यौन शोषण की प्रथा निहित है ?

देवदासियों का कार्य बड़े बड़े मन्दिरों में यज्ञादि उत्सव के उपलक्ष्य पर मङ्गलगीतों का गायन करना, वादन करना, विधि के अनुसार पूजा सामग्रियों की व्यवस्था करना आदि था। भार्गवतन्त्र के बारहवें अध्याय में कहते हैं -

ततो मङ्गलवादिन्यो देवदास्यः स्वलङ्कृताः।
आवहन्त्युर्निशां सर्वां यथासूक्ष्मं यथाविधम्॥

परमपुरुषसंहिता के दूसरे अध्याय में यज्ञोत्सवादि की व्यवस्था में जो अर्चक परिचारक का निर्णय है, उस प्रसङ्ग में कहते हैं -

भेरीमृदङ्गपटहवीणावेण्वादिवाद्यकान्॥
घण्टाकाहलतूर्यादिमर्दलध्वनिकारकान्।
नृत्यगीतादिनिपुणान् बन्दीमागधलेखकान्॥
वेत्रहस्तान् भटाञ्चैव गजाश्वोष्ट्रादिपालकान्।
गोपालकान् देवदासी रथसारथिकान् तथा॥
स्थानशुद्धिकराञ्चैव पात्रशुद्धिकरान् तथा।

छत्रचामरवेत्रादिधारकान् वाहकान् ततः॥

उपर्युक्त श्लोकों में देख सकते हैं कि नाना प्रकार के गीत, संगीत, वाद्य आदि में निपुण जन,, स्तुतिकर्ता, लेखक, देवदासी, भीड़ आदि को सन्तुलित करने हेतु लाठी आदि धारण करने वाले पहलवान आदि, स्थान और सामग्री की शुद्धि और स्वच्छता हेतु कर्मचारियों की बात आती है। इस प्रकार समझना चाहिए कि किस शब्द या पद का क्या तात्पर्य एवं अर्थ है।

वेदों में ब्रह्म का बोध कराने वाले संक्षिप्त किन्तु परिपूर्ण वाक्यों को महावाक्य कहते हैं। शैव मत में चार, वैष्णव मत में पांच, सौर मत में एक, स्कान्द मत में बाईस, गाणपत्य मत में आठ, शाक्त मत में एक तथा सबों का समन्वय करने वाले निग्रह मत में सर्वाधिक पच्चीस महावाक्यों की परम्परा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ लघुकाय होने पर भी सभी महावाक्यों का समन्वय करने वाले श्रीनिग्रहाचार्य के द्वारा विरचित सानुवाद निवृत्तिभाष्य से युक्त होने से अत्यन्त उपयोगी है। निवृत्तिमार्ग की ओर अग्रसर मुमुक्षुओं के लिए यह उत्तम पाथेय है। सभी सम्प्रदायों के निमित्त इसमें सौदार्य सर्वाचार्यप्रशस्ति एवं न्यासविधान का भी समावेश आचार्यपाद ने किया है।

श्रीनिग्रहाचार्य को स्वप्न में सूर्यदेव ने सौर महावाक्य का उपदेश करके भाष्यप्रेरणा प्रदान की थी। महावाक्यों का उपदेश, श्रवण अथवा उनपर लेखन करने का अधिकार सबों को नहीं होता है अतएव अपने वर्णाश्रमाचार के अनुरूप समीक्षा करते हुए ही इनका अनुशीलन करना श्रेयस्कर होगा, ऐसी पाठकों से प्रार्थना तथा अपेक्षा है।

- प्रकाशक

श्रीमन्निग्रहाचार्यकृतं निवृत्तिभाष्यम्

मङ्गलाचरणम्

श्रीशङ्करं भवहरं कलिकल्मषारिं
योगीन्द्रवर्यमपराजितमद्वितीयम्।
सर्वज्ञपीठगतमानुविधित्समार्यं
नौमीड्यसर्वनिगमागमतत्त्वमूर्तिम् ॥०१॥

सांसारिक बन्धन का नाश करने वाले, कलियुग के दोषों के शत्रु, योगियों के स्वामियों में भी श्रेष्ठ, अपराजित एवं अद्वितीय, सर्वज्ञपीठ में आरूढ़, संसार का हित करने वाले आचारनिष्ठ, सभी वेद एवं तन्त्र के तात्त्विक स्वरूप श्रीशंकराचार्य को मैं स्तुतिपूर्वक प्रणाम करता हूँ।

यत्पङ्कजाङ्घ्रिविभवेन महाष्टपाशा
नाक्रोशयन्ति मनुजं जठराग्निचक्रे।
नैवं पुनः प्रविशतीह वदान्यवर्यो
रामानुजो विजयते यतिराजराजः ॥०२॥

जिनके चरणकमलों के प्रताप से, महान् अष्टपाश मनुष्य को कष्ट नहीं देते और उसका पुनः माता के गर्भ में प्रवेश नहीं होता है, ऐसे उदारमना जनों में श्रेष्ठ, संन्यासियों के स्वामियों के भी स्वामी श्रीरामानुजाचार्य जी विजयी हो रहे हैं।

भक्त्यामास्थानुमितिकरणाद्वेदवेदान्तघोषैर् -
वर्णाश्रम्यान्निहितनियमान् बाह्यजातीश्च म्लेच्छान्।

रामारक्तान्मथितमनसो रामतत्त्वे निधाय
रामानन्दो रघुवरमती राजते पुण्यकीर्तिः ॥०३॥

भक्ति में आस्था को अनुगामिनी बनाकर, वेदवेदान्त के घोष से वर्णाश्रम में स्थित जनों को-, नियमों में लगे हुए जनों को, जाति से बहिष्कृत तथा म्लेच्छ जनों को, स्त्री आदि में आसक्त मथित चित्त वालों को भी रामतत्त्व में स्थित करके अपनी पुण्यरूपिणी कीर्ति वाले, रघुवर श्रीरामजी में अपनी मति रखने वाले श्रीरामानन्दाचार्य जी शोभायमान् हैं।

आदौ मर्कटरूपी पश्चादनिलांशो
याम्ये द्वैतप्रकटीकरणार्थं तिष्ये।
यो भूत्वा हरिधर्मे लोके विरराज
मध्वाचार्यं श्रीगुरुमूर्तिं प्रणतोऽस्मि ॥०४॥

पहले वानर हनु)मान्के रूप से (, बाद में वायु के अंश द्वैतमार्ग को प्रकट करने के लिये बन कर और कलियुग में (भीमसेन) जो दक्षिण में उत्पन्न होकर विष्णुमार्ग में सुशोभित हुए, ऐसे गुरुरूपी श्रीमध्वाचार्य जी के प्रति मैं विनत हूँ।

द्वैताद्वैतोपदेष्टारं विष्णुचक्रावतारिणम्।
वन्दे तं निम्बमार्तण्डं द्वितीयमिव भास्करम् ॥०५॥
योऽनन्यतां समादाय शुद्धाद्वैतमबोधयत्।
नौमि तं वैष्णवाचार्यं वल्लभं हरिवल्लभम् ॥०६॥

द्वैताद्वैत के उपदेष्टा, भगवान् विष्णु के सुदर्शन चक्र के अवतार श्रीनिम्बार्काचार्य जी की मैं वन्दना करता हूँ जो दूसरे सूर्य के समान हैं। जिन्होंने अनन्यता को प्राप्त करके शुद्धाद्वैत का प्रबोधन किया, उन वैष्णवाचार्य श्रीवल्लभाचार्य को मैं प्रणाम करता हूँ जो श्रीहरि के प्रिय हैं ।(अथवा जिन्हें श्रीहरि प्रिय हैं)

उदितरविप्रभावन्निग्रहा ये च पूर्वे
जगति दिवि जयेयू राधका धर्मवृत्तेः।
नदनुकपटशास्त्रायावका ये महान्तः
प्रकटितमतिशास्त्रानग्रजान्नौमि नित्यम्॥०७॥

उगे हुए सूर्य के समान प्रभा वाले जो निग्रहाचार्य पूर्व में हो चुके हैं, धर्मवृत्ति की संसिद्धि करने वाले वे इस संसार और स्वर्ग में जयशाली हों। बादलरूपी कपटशास्त्रों के लिये जो महानुभाव वायु के तुल्य हैं, जिन्होंने शास्त्र एवं स्वमति को प्रकट किया है, ऐसे मेरे पूर्वाचार्यों को मैं प्रतिदिन प्रणाम करता हूँ।

॥ वैष्णवानां न्यासः ॥

विष्णुर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । परमात्मा देवता । ऐं बीजम् । क्लीं शक्तिः । सौः कीलकम् । मम मुक्त्यर्थे जपे विनियोगः ।

विष्णुर्ऋषये नमः शिरसि ।
गायत्रीछन्दसे नमो मुखे ।
परमात्मदेवतायै नमो हृदि ।
ऐं बीजाय नमो गुह्ये ।
क्लीं शक्तये नमः पादयोः ।
सौः कीलकाय नमो नाभौ ।

मम मुक्त्यर्थे जपे विनियोगाय नमः सर्वाङ्गे ।

वासुदेवाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः।
सङ्कर्षणाय तर्जनीभ्यां स्वाहा।
प्रद्युम्नाय मध्यमाभ्यां वषट् ।
अनिरुद्धाय अनामिकाभ्यां हुम् ।
वासुदेवाय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट् ।
वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धेभ्यः करतलकरपृष्ठाभ्यां फट् ।

वासुदेवाय हृदयाय नमः।
सङ्कर्षणाय शिरसे स्वाहा।
प्रद्युम्नाय शिखायै वषट् ।
अनिरुद्धाय कवचाय हुम् ।
वासुदेवाय नेत्रत्रयाय वौषट् ।
वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धेभ्योऽस्त्राय फट् ।

॥ भूर्भुवःस्वरोमिति दिग्बन्धः ॥

--*

॥ शैवानां न्यासः ॥

परमहंस ऋषिः । अव्यक्तगायत्री छन्दः । परमहंसो देवता । हं बीजम् । सः शक्तिः । सोऽहं कीलकम् ।

मम मुक्त्यर्थे जपे विनियोगः ।

परमहंस ऋषये नमः शिरसि ।
अव्यक्तगायत्रीछन्दसे नमो मुखे ।
परमहंसो देवतायै नमो हृदि ।
हं बीजाय नमो गुह्ये ।
सः शक्तये नमः पादयोः ।
सोऽहं कीलकाय नमो नाभौ ।
मम मुक्त्यर्थे जपे विनियोगाय नमः सर्वाङ्गे ।

तत्पुरुषाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः ।
ईशानाय तर्जनीभ्यां स्वाहा ।
अघोराय मध्यमाभ्यां वषट् ।
सद्योजाताय अनामिकाभ्यां हुम् ।
वामदेवाय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट् ।
तत्पुरुषेशानाघोरसद्योजातवामदेवेभ्यः करतलकरपृष्ठाभ्यां फट् ।

तत्पुरुषाय हृदयाय नमः ।
ईशानाय शिरसे स्वाहा ।

अघोराय शिखायै वषट् ।
सद्योजाताय कवचाय हुम् ।
वामदेवाय नेत्रत्रयाय वौषट् ।
तत्पुरुषेशानाघोरसद्योजातवामदेवेभ्योऽस्त्राय फट् ।

॥ भूर्भुवःस्वरोमिति दिग्बन्धः ॥

--*

॥ शाक्तानां न्यासः ॥

मन ऋषिः । गायत्री छन्दः । अर्धनारीश्वरो देवता । अव्यक्तादिर्बीजम् । नृसिंहः शक्तिः । परमात्मा कीलकम् ।

मम मुक्त्यर्थे जपे विनियोगः ।

मन ऋषये नमः शिरसि ।
गायत्रीछन्दसे नमो मुखे ।
अर्धनारीश्वरो देवतायै नमो हृदि ।
अव्यक्तादिर्बीजाय नमो गुह्ये ।
नृसिंहशक्तये नमः पादयोः ।
परमात्मकीलकाय नमो नाभौ ।
मम मुक्त्यर्थे जपे विनियोगाय नमः सर्वाङ्गे ।

पृथ्वीद्व्यणुकाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः ।
अब्द्व्यणुकाय तर्जनीभ्यां स्वाहा ।
तेजोद्व्यणुकाय मध्यमाभ्यां वषट् ।
वायुद्व्यणुकाय अनामिकाभ्यां हुम् ।
आकाशद्व्यणुकाय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट् ।
पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशद्व्यणुकेभ्यः करतलकरपृष्ठाभ्यां फट् ।

पृथ्वीद्व्यणुकाय हृदयाय नमः ।
अब्द्व्यणुकाय शिरसे स्वाहा ।
तेजोद्व्यणुकाय शिखायै वषट् ।
वायुद्व्यणुकाय कवचाय हुम् ।
आकाशद्व्यणुकाय नेत्रत्रयाय वौषट् ।
पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशद्व्यणुकेभ्योऽस्त्राय फट् ।

॥ भूर्भुवःस्वरोमिति दिग्बन्धः ॥

--*

॥ सौरगाणपत्यकौलनिग्रहादिसर्वयतीन्द्राणाञ्च न्यासः ॥

ॐ अस्य श्रीमहावाक्यमहामन्त्रस्य हंस ऋषिः । अव्यक्तगायत्री छन्दः । परमहंसो देवता । हं बीजम् । सः शक्तिः । सोऽहं

कीलकम् । मम परमहंसप्रीत्यर्थे महावाक्यजपे विनियोगः ।

हंस ऋषये नमः शिरसि ।
अव्यक्तगायत्रीछन्दसे नमो मुखे ।
परमहंसो देवतायै नमो हृदि ।
हं बीजाय नमो गुह्ये ।
सः शक्तये नमः पादयोः ।
सोऽहं कीलकाय नमो नाभौ ।
मम परमहंसप्रीत्यर्थे महावाक्यजपे विनियोगाय नमः सर्वाङ्गे ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म अङ्गुष्ठाभ्यां नमः ।
नित्यानन्दो ब्रह्म तर्जनीभ्यां स्वाहा ।
नित्यानन्दमयं ब्रह्म मध्यमाभ्यां वषट् ।
यो वै भूमा अनामिकाभ्यां हुम् ।
यो वै भूमाधिपतिः कनिष्ठिकाभ्यां वौषट् ।
एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म करतलकरपृष्ठाभ्यां फट् ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म हृदयाय नमः ।
नित्यानन्दो ब्रह्म शिरसे स्वाहा ।
नित्यानन्दमयं ब्रह्म शिखायै वषट् ।
यो वै भूमा कवचाय हुम् ।
यो वै भूमाधिपतिः नेत्रत्रयाय वौषट् ।
एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म अस्त्राय फट् ।

॥ भूर्भुवःस्वरोमिति दिग्बन्धः ॥

--*

॥ महावाक्यध्यानम् ॥ (हृदि)

अग्नीषोमगुरुद्वयं प्रणवकं बिन्दुत्रिनेत्रोज्ज्वलं,
भास्वद्रूपमुखं शिवाङ्घ्रियुगलं पार्श्वस्थसूर्यानलम् ।
उद्यद्भास्करकोटिकोटिसदृशं हंसं जगद्व्यापिनं,
शब्दब्रह्ममयं हृदम्बुजघटे नीडे सदा संस्मरेत् ॥

॥ आत्मध्यानम् ॥ (कण्ठे)

प्रत्यङ्गेषु निविष्टमङ्गरहितं व्याप्तं जगत्कारणम्,
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं गुणागुणमयं वैराग्यसम्मिश्रितम् ।
मूर्तामूर्तममोयमूर्तिममलं ज्योतिः प्रदीप्तोज्ज्वलं,
साक्षात् षोडशवर्णपत्रकमले जीवं परं चिन्तयेत् ॥

॥ गुरुध्यानम् ॥ (टेलला)

हक्षाभ्यां परिक्लृप्तपत्ररचिते पद्मे जगत्कारणं,
विश्वोत्तीर्णमनेकदेहनिलयं विद्युद्विलासं परम् ।
तत्तद्योग्यतया स्वदेशिकतनुं सम्प्राप्तरूपं परं,
प्रत्यक्षाक्षरविग्रहं गुरुपदं ध्यायेत्परं दैवतम् ॥

॥ ब्रह्मध्यानम् ॥ (ब्रह्मरन्ध्रे)

विश्वस्यादिमनादिमेकममलं नित्यं परं निष्कलं,
नित्योद्बुद्धसहस्रपत्रकमले आद्यक्षरैर्मण्डिते ।
नित्यानन्दमयं समस्तमुनिभिः संवित्स्फुरच्चान्तरं,
स्मृत्वात्मानमनेकविश्वनिलयं स्वच्छं जगत्सर्वतः ॥

--*

निवृत्तिभाष्यम्

महयते पूज्यतेऽसौ इति महत्। तत्तु ब्रह्म। परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः। परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणमिति महाभारते। महतो महीयानिति श्रुतिः। महदर्थप्रकाशकं ब्रह्मबोधकं वाक्यं महावाक्यं यस्मिन् प्रणवान्तर्गतं परब्रह्म उपदिष्टम्। प्रधानस्त्वेकस्तारः। आम्नाये चत्वारि वाक्यानि। बृंहणे पञ्चविंशतिः। भूततन्मात्रेन्द्रियकरणानि चतुर्विंशतिसङ्ख्यकानि। सहात्मना पञ्चविंशतिः। तस्मादत्र तद्वद्व्याख्यास्यामः।

जिसका सम्मान होता है, जिसकी पूजा होती है, वह महान् है, वह ब्रह्म है। महाभारत में महान् तेज, महान् तप एवं महान् शरण वाले महान् परब्रह्म का वर्णन है। श्रुति कहती है कि वह महान् से भी महान् है। उस महान् के अर्थ का प्रकाशन करने वाला, ब्रह्मबोध कराने वाला वाक्य महावाक्य है जिसमें प्रणव के अन्तर्गत परब्रह्म का उपदेश किया गया है। इसमें प्रधान एक ही तार स हो जाते हैं। भूतहै। वेदों के सम्प्रदायानुसार चार वाक्य हैं। इनका विस्तार करने पर यह पच्ची (ॐ), तन्मात्रा, इन्द्रिय एवं करण को मिलाकर चौबीस संख्या होती है। आत्मा को जोड़ देने पर पच्चीस हो जाती है। अतएव (तत्वों की) यहाँ उसी प्रकार से व्याख्याकरेंगे।

--*

॥ प्रज्ञानं ब्रह्म ॥०१॥

निवृत्तिभाष्यम्

प्रज्ञानमिति चैतन्यम्। यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं स्वभावत उत्पत्तिर्वा तच्चैतन्यम्। चैतन्यमिति आत्मा इति शिवसूत्रेषु। ज्ञानक्रिये पराशक्तेः स्पन्दनावत्र ज्ञानं बन्ध इति। अत्र ज्ञानपदेन लोकज्ञानं न तु ब्रह्मणः। प्रज्ञानं लोकोत्तरमिति। प्र इत्यारम्भः। प्र इति गतिः। जगतो निर्माणक्रियारम्भोपक्रमो वा यस्मादस्ति चान्ते यत्सर्वेषां परमा गतिस्तत्प्रज्ञायतेऽनेनेति प्रज्ञानम्। प्रज्ञानं तु प्रकाशतेति षड्जगीतायाम्। तत्तु ब्रह्म। प्रज्ञानं ब्रह्मेति वा अहं ब्रह्मास्मीति वा भाष्यते बह्वृचोपनिषदि। प्रज्ञानं ब्रह्म इत्यात्मबोधोपनिषदि श्रुतिः।

प्रज्ञान का अर्थ चैतन्य है। जिसमें सब कुछ प्रतिष्ठित है अथवा जिससे सबों की स्वभावतः उत्पत्ति है, वह चैतन्य है। शिवसूत्रों में आत्मा को चैतन्य शब्द से कहा गया है। ज्ञान एवं क्रिया पराशक्ति के स्पन्दन हैं जिसमें ज्ञान बन्धन है। यहाँ ज्ञानपद से संसार का ज्ञान लक्षित है, ब्रह्म का नहीं। प्रज्ञान संसार से परे है, ऐसा है। प्र का अर्थ आरम्भ है। प्र का अर्थ गति है। संसार की निर्माणक्रिया, आरम्भ अथवा उपक्रम जिससे है तथा जो अन्त में सबकी गति है, इसका भली प्रकार से इससे बोध होता है, अतएव यह प्रज्ञान है। प्रकाशित करने की उपलब्धि प्रज्ञान है, ऐसा षड्जगीता में है। वह ब्रह्म है। प्रज्ञान ब्रह्म

है अथवा मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा बह्वृचोपनिषत् में कहा जाता है। प्रज्ञान ब्रह्म है, ऐसी आत्मबोधोपनिषत् में श्रुति है।

--*

॥ अहं ब्रह्मास्मि ॥०२॥

निवृत्तिभाष्यम्

अहमिति पदेन परमेश्वरोऽर्थीभूतः। अकारस्तु शिवो विष्णुः पुरुषो वा। हकारेण तस्य शक्तिरुमा श्रीः प्रकृतिर्वा निगद्यते। संयोगात्तयोरानन्दो जायते। आनन्देन ब्रह्मानन्द इति। ब्रह्मपदेन सर्वरूपता लक्षिता। अहं ब्रह्म परं ज्योतिः स्थूलदेहविवर्जितम् । अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्जरामरणवर्जितमिति गरुडपुराणे ब्रह्मचिन्तनम्। अहं ब्रह्म चिदाकाशं नित्यं ब्रह्म निरञ्जनम् । शुद्धं बुद्धं सदामुक्तमनामकमरूपकमिति श्रुतिस्तेजोबिन्दूपनिषदि। नित्यशुद्धबन्धमुक्तसत्यमानन्दमद्वयम्। ब्रह्माहमस्म्यहं ब्रह्म परं ज्योतिर्विमुक्त ओमित्यग्निपुराणे ब्रह्मचिन्तनम्। तस्मादहं ब्रह्मास्मीत्यर्थमहं शक्तिमान्परमेश्वरोऽस्मीति भावयेत्।

'अहम्', इस पद से परमेश्वर का अर्थ ग्रहण किया गया है। अकार शिव, विष्णु अथवा पुरुष है। हकार से उसकी शक्ति उमा, लक्ष्मी अथवा प्रकृति कही जाती है। उन दोनों के संयोग से आनन्द उत्पन्न होता है। आनन्द शब्द से ब्रह्मानन्द समझना चाहिए। ब्रह्मपद से सर्वरूपता का भाव लक्षित है। गरुडपुराण में ब्रह्मचिन्तन है -'मैं स्थूल देह से परे परम ज्योतिरूप ब्रह्म हूँ। मैं बुढापे एवं मृत्यु से रहित परम ज्योतिरूप ब्रह्म हूँ।' तेजोबिन्दूपनिषत् में श्रुति है -'मैं चिदाकाशमय, निरञ्जन, नित्य विद्यमान् रहने वाला ब्रह्म हूँ। मैं बुद्ध-शुद्ध (मल एवं अज्ञान से रहित), सदैव मुक्त, नाम तथा रूप से रहित ब्रह्म हूँ।' अग्निपुराण में ब्रह्मचिन्तन है -'मैं अविनाशी, शुद्ध, बन्धन से मुक्त, सत्य, आनन्दमय, अद्वितीय ब्रह्म हूँ। मैं परम ज्योतिरूप हूँ, सर्वथा मुक्त ब्रह्म हूँ। अतएव अहं ब्रह्मास्मि के अर्थ हेतु, मैं शक्तिमान् परमेश्वर हूँ, ऐसी भावना करे।

--*

॥ तत्त्वमसि ॥०३॥

निवृत्तिभाष्यम्

तत्पदेन शक्त्यात्मकः परमेश्वरोऽनामरूपगुणलिङ्गविशिष्टो वर्ण्यते। तत्पदे क्लैव्यम्। त्वङ्कारस्तु पौरुषः। तयोर्न लिङ्गसाम्यता। तस्मादलिङ्गधर्मा शक्तियुक्तः परमेश्वरो लक्ष्यः। तद्ब्रह्म। त्वं जीवः। असीत्यभेदप्रबोधः। बोधको गुरुर्लब्धब्रह्मपदम्।

तत्त्वमसीत्येव सम्भाष्यते बह्वृचोपनिषदि हयग्रीवोपनिषदि च।

'तत्' पद से शक्त्यात्मक परमेश्वर, जो नाम, रूप, गुण एवं लिंग की विशिष्टता से रहित है, वह वर्णित होता है। 'तत्' पद नपुंसकलिंग में है। 'त्वम्' पद में पुंल्लिङ्ग है। दोनों में लिङ्ग की दृष्टि से साम्यता नहीं है। अतएव लिङ्गधर्म से परे शक्तियुक्त परमेश्वर को लक्ष्य समझना चाहिये। तत् पद ब्रह्म है, त्वम् पद जीव है। असि पद से अभेद का बोध होता है। यहाँ ब्रह्मपद को प्राप्त गुरु बोधक हैं। तत्त्वमसि महावाक्य बह्वृचोपनिषत् में कहा गया है और हयग्रीवोपनिषत् में भी वर्णन है।

--*

॥ अयमात्मा ब्रह्म ॥०४॥

निवृत्तिभाष्यम्

अयमात्मा निर्लेपो निर्द्वन्द्वो निर्विकल्पस्त्रिगुणात्मकेन जगता नावरुद्धः परंब्रह्म वर्तते। अयमिति प्रत्यक्षानुभूयते लोकधर्मानुशीलेन। आत्मा इति जिज्ञासितव्यो देहव्यामोहविदूरीकरणात्। ब्रह्मेति परोक्षसाम्यम्। अयमात्मा परं ब्रह्म सत्यं

ज्ञानमनन्तकमित्यग्निपुराणे। अयमात्मा परं ब्रह्म अहमस्मीति मुच्यत इति तत्रैव। अयमात्मा परं ज्योतिश्चिन्नामानन्दरूपक इति गरुडपुराणे। अयमात्मा ब्रह्मेति बह्वृचोपनिषदि, रामतापिन्युपनिषदि, शुकरहस्योपनिषदि, हयग्रीवोपनिषदि शतपथब्राह्मणे च। अयमात्मा हि ब्रह्मैव सर्वात्मकतया स्थितः। इति निर्धारितश्रुत्या बृहदारण्यसंस्थयेत्यपरोक्षानुभूतिकथने श्रीशङ्कराचार्यः।

यह आत्मा निर्लेप, निर्द्वन्द्व, निर्विकल्प, त्रिगुणात्मक संसार के द्वारा बाधित न होने वाला परब्रह्म है। 'अयम्' पद से संसार में क्रियाशील चेतन का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। देह के मोह को दूर करने पर 'आत्मा' की जिज्ञासा करनी चाहिए। 'ब्रह्म' पद से आत्मा से अभिन्न परोक्ष तत्त्व का भाव है। यह आत्मा सत्य, ज्ञानरूपी, अनन्त परब्रह्म है, ऐसा अग्निपुराण में है। वहीं कहते हैं कि यह आत्मा परब्रह्म है, जो कि मैं हूँ, इस प्रकार से मुक्त होता है। चिदानन्दसंज्ञक यह आत्मा परमज्योतिरूप है, ऐसा गरुडपुराण की उक्ति है। यह आत्मा ब्रह्म है, यह बात बह्वृचोपनिषत्, रामतापिन्युपनिषत्, शुकरहस्योपनिषत्, हयग्रीवोपनिषत् एवं शतपथब्राह्मण में वर्णित है। अपरोक्षानुभूति के कथन में श्रीशंकराचार्य जी कहते हैं कि बृहदारण्यक की श्रुति यह निर्धारित करती है कि यह आत्मा ब्रह्म ही है जो सर्वात्मभाव से सर्वत्र स्थित है।

--*

॥ सोऽहम् ॥०५॥

निवृत्तिभाष्यम्

आधारस्थानमारभ्यमूर्ध्वपर्यन्तगामिना पवनेन हकारमुच्चरेत्। सकारं मुखतो विसृजेदिति लक्ष्मीतन्त्रे। अत्र हंसेऽक्षरत्रयम् हकारोऽनुस्वारयुक्तोऽकारः सकारश्चेति। विपर्यये सोऽहमिति। सकारञ्च हकारञ्च जीवो जपति सर्वदा इति ब्रह्मविद्योपनिषदि। सोऽहमात्मा इति भस्मजाबालोपनिषदि। सकारञ्च हकारञ्च लोपयित्वा प्रयोजयेत् । सन्धिं वै पूर्वरूपाख्यं ततोऽसौ प्रणवो भवेदिति मानसोल्लासे। व्यञ्जनस्य सकारस्य हकारस्य च वर्जनात्। ओमित्येव भवेत्स्थूलो वाचकः परमात्मन इति शिवपुराणे। ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म इति श्रीमद्भगवद्गीतासु।

लक्ष्मीतन्त्र में कहते हैं कि मूलाधार से आरम्भ करके ऊपर की ओर गमन वाले वायु के द्वारा हकार का उच्चारण करे। सकार का मुख से विसर्जन करे । इस(वायु के साथ उच्चारण करे)'हंस' पद में तीन अक्षर हैं। हकार, अनुस्वार के साथ अकार तथा सकार। इसको विपरीत कर देने से सोऽहम् बनता है। ब्रह्मविद्योपनिषत् में वर्णन है कि जीव सदैव इस सकार एवं (अं) हकार का जप करता है। भस्मजाबालोपनिषत् में सोऽहम् को आत्मतत्त्व कहा है। सकार एवं हकार का लोप करके इसका प्रयोग करे, यह पूर्वरूपसन्धि है जिससे यह प्रणव बन जाता है (ॐ), ऐसा मानसोल्लास में है। सकार एवं हकार व्यंजनों को वर्जित करने से ॐ बनता है, जो परमात्मा का स्थूल वाचक है, ऐसा शिवपुराण में है। ॐ, यह एकाक्षर ब्रह्म है, ऐसा श्रीमद्भगवद्गीता में है।

--*

॥ ईशा वास्यमिदं सर्वम्॥०६॥

निवृत्तिभाष्यम्

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर इति योगदर्शनम्। अविद्यादिपञ्चक्लेशैः पापपुण्यादिकर्मविपाकैः स्वभावतो निर्मुक्त ईशः। तेन ईश्वरेणेदं दृश्यादृश्यमयं जगत् सर्वतोभावेन परिरक्षितं तस्मात्तेन व्याप्तमित्यर्थः।

क्लेश एवं कर्मविपाक से भिन्न और निर्बाध पुरुष विशेष को ईश्वर कहते हैं, ऐसा योगदर्शन का वचन है। अविद्या आदि पांच क्लेश तथा पाप पुण्यादि कर्मविपाक से स्वभावतः निर्मुक्त-'ईश' होता है। उस ईश्वर के द्वारा यह दृश्य एवं अदृश्य जगत् पूरी तरह से रक्षित है और इसी कारण से उससे व्याप्त है, ऐसा अर्थ है।

--*

॥ प्राणोऽस्मि ॥०७॥

निवृत्तिभाष्यम्

प्राणिति जीवति बहुकालमिति प्राणः। प्राणः प्राणयते प्राणमिति अग्निपुराणे। पिण्डे दशविधः प्राणापानव्यानसमानोदाननागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जय इति पुराणेषु। ब्रह्माण्डे सप्तविध ऊर्ध्वप्रौढाव्यूढविभूर्योनिप्रियापरिमित इत्यथर्ववेदे। प्रोच्यते भगवान् प्राणः सर्वज्ञः पुरुषोत्तम इति कूर्मपुराणे। आत्मा वै मनो हृदयं प्राण इति शतपथब्राह्मणे तस्मादहमात्मा प्राणरूपीति भावयेत्।

बहुत समय तक जीवित रहता है, प्राणशक्ति से युक्त रहता है, अतएव प्राण है। 'प्राण' प्राणशक्ति का संचार करता है, ऐसा अग्निपुराण का वचन है। शरीर में यह दश प्रकार का होता है प्राण -, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त एवं धनंजय, ऐसा पुराणों का कथन है। ब्रह्माण्ड में यह सात प्रकार का होता है ऊर्ध्व -, प्रौढ, अव्यूढ, विभू, योनि, प्रिय एवं अपरिमित, ऐसा अथर्ववेद में है। भगवान् प्राण सर्वज्ञ एवं पुरुषोत्तम कहे गये हैं, ऐसा कूर्मपुराण का वचन है। शतपथब्राह्मण कहते हैं, आत्मा ही मन, हृदय एवं प्राण है, अतएव मैं, आत्मा प्राणरूपी हूँ, ऐसी भावना करे।

--*

॥ प्रज्ञानात्मा ॥०८॥

निवृत्तिभाष्यम्

प्राथमिके प्रोक्तानुसारं प्रज्ञानमिति ब्रह्म। ब्रह्मात्मबोधेन मुक्तिः। कर्मबन्धो जीव आत्मा कर्ममुक्तः। प्रज्ञानमयं ब्रह्म प्रति निम्नगासिन्धुवद्यात्यभिन्नतां लभते। घट उद्भिन्ने तदाकाशो महाकाशो भवति यथा तस्मात्तथा प्रज्ञानात्मा।

पहले कहे गए अनुसार प्रज्ञान का अर्थ ब्रह्म है। ब्रह्म एवं आत्मा के बोध से मुक्ति होती है। कर्मबन्धन में फंसा जीव कहलाता है और कर्म से मुक्त आत्मा होता है। प्रज्ञानमय ब्रह्म के प्रति यह आत्मा वैसे ही जाकर अभिन्न हो जाता है जैसे नदी समुद्र के प्रति। जैसे, घड़े के फूटने पर उसका आकाश महाकाश में लीन हो जाता है। अतएव प्रज्ञान आत्मा है।

--*

॥ अक्षरं ब्रह्म परमम् ॥०९॥

निवृत्तिभाष्यम्

न क्षरतीत्यक्षरम्। क्षराद्विरुद्धधर्मत्वादक्षरं ब्रह्म भण्यते। क्षर सञ्चलने, न क्षरतीति, कूटस्थमस्तीत्यक्षरम्। कूटस्थश्चेतनो भोक्ता स तु अक्षरः पुरुष उच्यते विवेकिभीरिति श्रीधरस्वामी। अक्षरं परमं ब्रह्म विश्वं चैतत् क्षरात्मकमिति वामनपुराणे। अक्षरं तत्परं पदमिति भविष्यपुराणे। अक्षरं ब्रह्म सत्यमिति पद्मपुराणे। अक्षरं ध्रुवमेवोक्तं पूर्वं ब्रह्म सनातनमिति ब्रह्मपुराणे।

जिसका क्षरण न हो, वह अक्षर है। क्षरण के विपरीत धर्म वाला अक्षर ब्रह्म कहा जाता है। क्षर शब्द चलने के अर्थ में है, जो क्षरित नहीं होता है, कूटस्थ है, वह अक्षर है। श्रीधरस्वामी कहते हैं कूटस्थ चेतन भोक्ता है -, वह विवेकियों के द्वारा अक्षर पुरुष कहा जाता है। वामनपुराण का वचन है परब्रह्म अक्षर है। वह परमपद अक्षर है यह विश्व क्षरात्मक है एवं -, ऐसा भविष्यपुराण का वचन है। वह अक्षर ब्रह्म सत्य है, ऐसा पद्मपुराण में है। निश्चय ही पहले कहा गया ब्रह्म अक्षर एवं सनातन है, ऐसा ब्रह्मपुराण का कथन है।

॥ तत्वस्य प्राणोऽहमस्मि पृथिव्याः प्राणोऽहमस्मि॥१०॥

॥ अपां च प्राणोऽहमस्मि तेजसश्च प्राणोऽहमस्मि॥११॥

॥ वायोश्च प्राणोऽहमस्मि आकाशस्य प्राणोऽहमस्मि॥१२॥

॥ त्रिगुणस्य प्राणोऽहमस्मि॥१३॥

निवृत्तिभाष्यम्

चतुर्णामर्थः। भूततन्मात्रेन्द्रियकरणानां तत्वसंज्ञा। तानि प्राणये। मूलाधारस्याधिष्ठात्री पृथ्वी भवति गन्धतन्मात्राभिहिता। तां प्राणये। स्वाधिष्ठानस्याधिष्ठातार आपो भवन्ति रसतन्मात्राभिहिताः। ताः प्राणये। मणिपुरस्याधिष्ठातृ तेजो भवति रूपतन्मात्राभिहितम्। तत्प्राणये। अनाहतस्याधिष्ठाता वायुर्भवति स्पर्शतन्मात्राभिहितः। तं प्राणये। विशुद्धस्याधिष्ठाताकाशो भवति शब्दतन्मात्राभिहितः। तं प्राणये। सत्वरजस्तमांस्यादयानि त्रिगुणानि तानि प्राणये। अहमिति प्रत्यक्षानुभूतिजन्य आत्मा। तत् प्रज्ञानं। प्रज्ञानात्मा ब्रह्म।

अब चारों का अर्थ बताते हैं। पांच महाभूत, पांच तन्मात्रा, दसों इन्द्रियाँ एवं चार अन्तःकरण को तत्व कहते हैं। मैं उनमें प्राण का संचार करता हूँ। मूलाधार की स्वामिनी पृथ्वी होती है जो गन्ध तन्मात्रा से युक्त है, मैं उसमें प्राण का संचार करता हूँ। स्वाधिष्ठान के स्वामी जल हैं जो रस तन्मात्रा से युक्त हैं, मैं उनमें प्राण का संचार करता हूँ। मणिपुर के स्वामी अग्नि हैं जो रूप तन्मात्रा से युक्त हैं, मैं उनमें प्राण का संचार करता हूँ। अनाहत के स्वामी वायु हैं जो स्पर्श तन्मात्रा से युक्त हैं, मैं उनमें प्राण का संचार करता हूँ। विशुद्ध के स्वामी आकाश हैं जो शब्द तन्मात्रा से युक्त हैं, मैं उनमें प्राण का संचार करता हूँ। सत्त्व, रजस् एवं तमस्, ये तीन गुण हैं, मैं उनमें प्राण का संचार करता हूँ। 'मैं' का अर्थ प्रत्यक्ष अनुभूतिजन्य आत्मा है। वह आत्मा प्रज्ञान है। प्रज्ञानात्मा ब्रह्म होता है।

--*

॥ योऽसौ सोऽहं हंसः सोऽहमस्मि ॥१४॥

निवृत्तिभाष्यम्

उच्छासनिश्वासतया तदा बन्धक्षयो भवेत्। उच्छासे चैव निश्वासे हंस इत्यक्षरद्वयम्। तस्मात् प्राणस्तु हंसात्मा आत्माकारेण संस्थित इति दक्षिणामूर्तिसंहितायाम्। हंकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः कथयति निरुत्तरतन्त्रम्। सोऽहमिति विपरीतहंसः। व्यञ्जनौ बहिष्कृत्य प्रणवो भवेदिति। प्रणवो ब्रह्म। हंसो निर्विकल्पोऽद्वितीयः। तत्परब्रह्म तदहम्।

दक्षिणामूर्ति संहिता कहती है कि श्वास लेने और छोड़ने से बन्धन का नाश होता है। कैसे)?) श्वास लेने और छोड़ने में 'हंस', इन दोनों अक्षरों का प्रयोग होता है। अतएव प्राण हंसात्मा है और आत्माकार होकर स्थित रहता है। निरुत्तर तन्त्र कहता है, (विपर्ययमत सेहंकार से बाहर जाता है और सकार से पुनः प्रवेश करता है। यह सोऽहं विपरीत हंसमन्त्र है। इसमें दोनों (को (स् एवं ह्) व्यंजनोंहटा देने से प्रणव होता है। प्रणव ब्रह्म है। हंस निर्विकल्प एवं अद्वितीय है। वह परब्रह्म है (ॐ), वह मैं हूँ।

--*

॥ यदेह तदमुत्र तदन्विह ॥१५॥

निवृत्तिभाष्यम्

दिवि भूमावन्तरिक्षे पाताले लोके लोकातीते वा यः स्थितस्तं भावयेत्। सर्वतो ब्रह्म व्याप्तम्। यथा शुचौ तथाशुचौ। यथा

विद्वत्सु तथा मूर्खेषु। यथा शैलशृंगे तथा सिन्धुगह्वरे। यथा वर्णाश्रमस्थितेषु तथा जातिबाह्येषु। सर्वतोभावेन व्याप्तं यथात्र नश्वरधर्मलोकेषु तथानश्वरधर्मपरमपद इत्यर्थः।

स्वर्ग में, भूमि में, अंतरिक्ष में, पाताल में, इस लोक तथा इस लोक से परे भी जो स्थित है, उसकी भावना करनी चाहिए। सर्वत्र ब्रह्म व्याप्त है। जैसे शुद्धि में है, वैसे ही अशुद्धि में भी है। जैसे विद्वानों में है, वैसे ही मूर्खों में भी है। जैसे पर्वतीय शिखरों में है, वैसे ही समुद्र की गहरायी में भी है। जैसे वर्णाश्रम में स्थित जनों में है, वैसे ही जातिबहिष्कृतों में भी है। सभी प्रकार से व्याप्त है। जैसे इस नश्वर लोक में है, वैसे ही अनश्वर परमपद में भी है, ऐसा अर्थ है।

--*

॥ अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि ॥१६॥

निवृत्तिभाष्यम्

यो जानाति न स ब्रूते यो ब्रूते न स ज्ञानवान् यस्माद्ब्रह्म ज्ञानिभ्योऽज्ञानिभ्योऽपि नानुभूयते सहजत्वेन। भौतिकदेहेन विश्वावस्थायामन्नप्राणकोशाभ्यांशब्दस्पर्शरूपरसगन्धग्रहण सामर्थ्यत्वाज्जीवेन विषया अनुभूयन्ते। सूक्ष्मदेहेन मनोविज्ञानकोशाभ्यां तैजसावस्थायां सूक्ष्मविषयानश्नाति। तेनैव कारणदेहेनानन्दकोशमाश्रित्य प्राज्ञावस्थायां ब्रह्मानन्दमनुभूयते। ब्रह्म विदिदात्परोऽगोचरत्वादविदितात्परश्चापि। देहत्रयीमुक्तोऽव्यक्तावस्थायातुरीयायाममृतमश्नुते।

जो जानता है, वह बता नहीं सकता एवं जो बता रहा है, वह ज्ञानवान् नहीं है क्योंकि ब्रह्म ज्ञानियों एवं अज्ञानियों के द्वारा भी सहज ही नहीं जाना जा सकता है। भौतिकदेह से विश्वावस्था में अन्नमय एवं प्राणमय कोष के माध्यम से शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध को ग्रहण करने की क्षमता से जीव के द्वारा विषयों का उपभोग किया जाता है। सूक्ष्मदेह से तैजसावस्था में मनोमय एवं विज्ञानमय कोष के माध्यम से सूक्ष्म विषयों का उपभोग करता है। उस जीव के द्वारा ही प्राज्ञावस्था में कारणदेह से आनन्दमय कोष का आश्रय लेकर ब्रह्मानन्द की अनुभूति होती है। ब्रह्म ज्ञानियों से भी परे है और अज्ञानियों से भी परे है। तीनों देह से मुक्त होकर तुरीया अव्यक्तावस्था में जीव अमृतत्त्व का उपभोग करता है।

--*

॥ असावादित्यो ब्रह्म ॥१७॥

निवृत्तिभाष्यम्

असावादित्यो ब्रह्मेत्यजपयोपहितं हंसः सोऽहमिति महावाक्योपनिषदि। असावादित्यो ब्रह्मेति तद्दोषस्य प्रशान्तय इति प्रश्नसंहितायाम्। तद्दोषस्येति मन्त्रदोषस्यार्थः। असावादित्यो ब्रह्मेति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति य एवं वेद इत्यन्तं श्रयत इति वैखानसगृह्यसूत्रे। अदितिरिति अखण्डार्थे। अखण्डत्वादादित्यः। तस्मादसावादित्यो ब्रह्म।

हंसमन्त्र एवं सोऽहं मन्त्र 'असावादित्यो ब्रह्म' इस अजपा से उपहित हैं, ऐसा महावाक्योपनिषत् का कथन है। प्रश्नसंहिता कहती है कि 'उसके दोष की शान्ति के लिए असावादित्यो ब्रह्म का प्रयोग करे'। 'उसके दोष' से मन्त्रदोष का अर्थ है। वैखानस गृह्यसूत्र का वचन है -'यह आदित्य ब्रह्म हैं, ब्रह्म को इस प्रकार जानकर ब्रह्म को प्राप्त कर जाता है।' अदिति शब्द यहाँ अखण्डता के अर्थ में है। अखण्डता से सम्बन्धित होने से आदित्य हैं। अतएव 'यह आदित्य ब्रह्म हैं।' यह जो आदित्य पुरुष है, वह अनादि मैं ही हूँ, ऐसा गीतासार पहले अर्जुन के लिये कहा गया था जिसे जानकर मनुष्य ब्रह्म में लय हो जाता है।

--*

॥ स यश्चायं पुरुषो

यश्चासावादित्ये स एकः॥१८॥

निवृत्तिभाष्यम्

प्र इति नवीनिति। परिवर्तनक्रमेण नित्यं नूतना कृतिर्विसर्ज्यते यया सा प्रकृतिः। प्रकृतेरपरः पुरुषः। अनादित्वेनानामरूपगुणगोत्रवान्। स्थाणुरिव कूटस्थो वायुरिव सर्वगो वह्निरिव प्रदीप्तः पुरुषो भवति। यः पुरुषः एभिर्लक्षणैरुप गीयमानो यदादित्ये ब्रह्मतत्त्वमस्ति तत् एतस्मिन्पुरुषेऽपि तिष्ठति। उभयोरन्तरं नास्ति। योऽसावादित्यपुरुषः सोऽसावावहमनादिमत्। गीतासारोऽर्जुनायोक्तो येन ब्रह्मणि वै लय इति गरुडपुराणे।

प्र का अर्थ नवीन होता है। परिवर्तनक्रम के कारण जिसके द्वारा नित्य नयी कृति की रचना की जाती है, उसे प्रकृति कहते हैं। पुरुष प्रकृति से परे है। अनादि होने से यह निश्चित नाम, रूप, गुण एवं गोत्र वाला नहीं है। ठूंठ के समान कूटस्थ, वायु के समान सर्वत्र विचरण करने वाला, अग्नि के समान प्रज्वलित कलेवर वाला पुरुष होता है। जो पुरुष इस प्रकार के लक्षणों वाला बताया गया है और जो आदित्य में ब्रह्मतत्त्व प्रतिष्ठित है, वह भी इसी पुरुष में स्थित रहता है, इन दोनों में अन्तर नहीं है। यह जो आदित्य पुरुष है, वह अनादि मैं ही हूँ, ऐसा गीतासार पहले अर्जुन के लिये कहा गया था जिसे जानकर मनुष्य ब्रह्म में लय हो जाता है।

--*

॥ एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१९॥

निवृत्तिभाष्यम्

सर्वज्ञत्वेनान्तर्यामी। एष इत्यात्मा लक्षणीयो जरामरणव्याध्यादिभ्यो विनिर्मुक्तो निर्विकल्पधर्मात्मामृत इति। अद्वैताचारयोगेन साधकः सिद्धिभाग्भवेत् । द्वैताद्वैतं तु येषां तु तेषां सिद्धिर्न जायत इति हाहारावतन्त्रे। तस्मादत्र विवादो न प्रकर्तव्यः। सर्वं विजानाति प्रत्यक्षमप्रत्यक्षं वा तस्मादन्तर्यामी। समष्टिमूलकत्वेन तिलेषु तैलवद्भासते। व्यष्टिमूलकत्वेन हृदि स्थितस्तस्मादन्तर्याम्यमृतञ्च।

सर्वज्ञ होने से अन्तर्यामी है। 'एष' पद से आत्मा को लक्षित किया जाना चाहिए जो वृद्धावस्था, मृत्यु, रोग आदि से सर्वथा मुक्त, निर्विकल्प लक्षण वाला अमृतरूपी है। अद्वैताचार के कारण साधक सिद्धियों को प्राप्त करता है और जो द्वैत एवं अद्वैत में उलझे रहते हैं, उन्हें सिद्धि नहीं होती, ऐसा हाहाराव तन्त्र का कथन है। अतएव इस विषय में विवाद नहीं करना चाहिए। प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष हो, यह सब कुछ जानता है, अतएव अन्तर्यामी है। समष्टिमूलक भाव से यह समस्त शरीर में वैसे ही भासित होता है जैसे तिल में तेल। व्यष्टिमूलक भाव से इसकी स्थिति हृदयदेश में है, अतएव यह अन्तर्यामी और अमृतत्व की संज्ञा से युक्त है।

--*

॥ अहमस्मि परब्रह्म परापरपरात्मकम् ॥२०॥

निवृत्तिभाष्यम्

अहमिति ब्रह्मबोधः। परमित्यलौकिकः। परा ब्रह्मज्ञानप्रदायिनी। अपरा लोकज्ञानदात्री। द्वयोर्नियन्त्रणं कृत्वा संसारप्रवर्तनानुपालकः परापरपरात्मकः। परेऽति रुद्रोऽपरेति ब्रह्मा परात्परेऽति विष्णुरिति श्रुतिः। तेषां श्रेष्ठो निर्गुणोऽव्यक्तः परब्रह्म इति परापरपरात्मकः। अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदमिति श्रीमद्भागवते शुकोपदेशः।

'अहम्' पद ब्रह्म का वाचन करता है। 'पर' का अर्थ अलौकिक है। परा विद्या का अर्थ ब्रह्मज्ञान है। अपरा विद्या का अर्थ

लोकज्ञान है। इन दोनों पर नियन्त्रण करके संसारप्रवर्तनानुपालन करने वाला परापरपरात्मक है। वेदों में पर को रुद्र, अपर को ब्रह्मा एवं विष्णु को परात्पर कहा गया है। उनसे श्रेष्ठ, निर्गुण, अव्यक्त, परब्रह्म को परापरपरात्मक कहते हैं। मैं ब्रह्म हूँ, परमधाम एवं ब्रह्म ही हूँ, परमपद हूँ, ऐसा श्रीमद्भागवत में शुकदेव जी का अन्तिम उपदेश है।

--*

॥ सर्वं खल्विदं ब्रह्म ॥२१॥

निवृत्तिभाष्यम्

सर्वमिति जडचेतनमयं चराचरञ्जगत्। खल्विदमित्यशेषतया लोके लोकोत्तरे वा। अहं ब्रह्मस्वरूपिणीति देव्यथर्वशीर्षे। सर्वं खल्विदमेवाहं नान्यदस्ति सनातनमिति श्रीमद्देवीभागवते। सत्तामसत्तां परिभावयन् सर्वगोचरागोचरत्वधर्मिणां तत्त्वे ब्रह्मतत्त्वं प्रतिष्ठितमित्यर्थः।

'सर्व' का तात्पर्य जड़चेतन से युक्त यह चराचर जगत् है। 'खल्विदं' का अर्थ निःशेष संसार एवं संसार से परे तत्त्वों से सम्बन्धित है। देव्यथर्वशीर्ष में देवी कहती हैं जो कुछ भी संसार में - मद्देवीभागवत में कहते हैंमैं ब्रह्मस्वरूपिणी हूँ। श्री - है, सब कुछ मैं ही हूँ, मेरे अतिरिक्त कोई अन्य शाश्वत सनातन नहीं है। सत्ता एवं असत्ता की भावना करते हुए सभी इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य एवं अग्राह्य गुण वालोंणां के तत्त्व में ब्रह्मतत्त्व प्रतिष्ठित है, ऐसा अर्थ है।

--*

॥ वेदशास्त्रगुरूणां तु स्वयमानन्दलक्षणम्॥२२॥

निवृत्तिभाष्यम्

धर्मब्रह्मप्रतिपादकमपौरुषेयवाक्यमिति वेदः। शिष्यतेऽनेन निर्देशं क्रियत इति शास्त्रम्। गुकारोऽन्धकारो रुकारश्च तस्य नाशक एवं गुरुस्तद्विधः। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्त इति श्रुतिप्रसिद्धम्। स्थितिर्विनाशश्च। वेदशास्त्रगुरुयुक्तेन जनेनानन्दमुपलभ्यते स न तु शोकभाक्।वेदशास्त्रगुरुवाक्यनिमित्तेन हृदम्बुजपटले ज्ञानदीपः प्रबुद्ध्यति तदामृतत्त्वममश्नुते।

धर्म एवं ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाला अपौरुषेय वाक्य वेद है। जिसके द्वारा शासन किया जाये एवं निर्देश किया जाये, वह शास्त्र है। गुकार अन्धकार को कहते हैं, रुकार उसका नाशक है, इस प्रकार से गुरु वैसे लक्षण वाला है अन्धका)र का नाश करने वाला। आनन्द से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं(, यह वेद में प्रसिद्ध है। स्थिति एवं विनाश भी इसी से (आनन्द) होते हैं। वेद, शास्त्र एवं गुरु से युक्त व्यक्ति के द्वारा आनन्द का उपभोग किया जाता है, वह शोक का भागी नहीं होता है। वेद, शास्त्र एवं गुरुवाक्य के निमित्त से हृदयकमल में ज्ञानरूपी दीपक का उद्बोधन करता है, तब अमृतत्त्व का उपभोग करता है।

--*

॥ सर्वभूतस्थितं ब्रह्म तदेवाहं न संशयः ॥२३॥

निवृत्तिभाष्यम्

क्षराक्षरभेदेन भूतानि। क्षरमिति नश्वरः संसारः। अक्षरमिति चेतनात्मा। पञ्चभूतानि पञ्चतन्मात्राः दशेन्द्रियाणि मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तानि लोकभूतानि। तत्सर्वमहमिति भावयेत्। नास्त्यत्र सन्देहो वर्ततेऽखिलं ब्रह्म इति संहितासु। ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठतीति श्रीमद्भगवद्गीतासु। वासुदेवः सर्वमिति च। एकैवाहं जगत्यत्रेति सप्तशतीवचनम्।

क्षर एवं अक्षर भेद से भूत विभाजित हैं। क्षर नश्वर संसार को कहते हैं। अक्षर का अर्थ चेतन आत्मा है। पांच महाभूत, पांच तन्मात्रा, दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, ये सब सांसारिक भूत हैं। वह सब कुछ मैं हूँ, ऐसी भावना करे। संहिताएं कहती हैं कि सब कुछ ब्रह्म है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहते हैं कि हे अर्जुन ईश्वर सभी प्राणियों ! इस संसार में मैं अकेली हूँ। - सब कुछ वासुदेव हैं। सप्तशती में देवी कहती हैं - हृदयदेश में स्थित है। वहीं कहते हैं के

--*

॥ सर्वोऽहं विमुक्तोऽहम् ॥२४॥

निवृत्तिभाष्यम्

सर्वमित्यखिलम्। अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशादयः क्लेशसंज्ञकाः। पापपुण्यमिश्ररहितानि कर्माणि। भयघृणालज्जाजुगुप्साजात्यभिमानादयोऽष्टपाशाः। क्लेशकर्मविपाकाष्टपाशरहितो विमुक्तोऽहमिति भावयेत्।

'सर्व' का अर्थ अखिल है। अविद्या (सबकुछ), अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश, ये क्लेश कहलाते हैं। पाप, पुण्य, पापपुण्य - पुण्य रहित-मिश्रित एवं पाप, ये कर्म के प्रकार हैं। भय, घृणा, लज्जा, जात्यभिमान जुगुप्सा, आदि अष्टपाश हैं। क्लेश, कर्मविपाक एवं अष्टपाश से रहित मैं विमुक्त हूँ, ऐसी भावना करे।

--*

॥ सर्वोऽहं सर्वात्मको संसारी यदभूतं यच्च भव्यं यद्वर्तमानं सर्वात्मकत्वाददद्वितीयोऽहम् ॥२५॥

निवृत्तिभाष्यम्

संसारः परिवर्तनधर्मानुशीलनत्वादस्थिरोऽस्मिन् घटमृत्तिकापटतन्तुवदात्मतत्त्वं प्रतिष्ठितम्। यदतीतं यद्भविष्यं यद्भूयमानं तत्सर्वमहं त्रिकालेषु प्रतिष्ठितोऽस्म्यहं कालातीतोऽस्म्यहम्। नान्यदस्ति किञ्चित् तस्माददद्वितीय इति भावयेत्।

संसार परिवर्तन के लक्षण के अनुशीलन के कारण अस्थिर है, इसमें घड़े एवं मिट्टी, कपड़े एवं धागे के समान आत्मतत्त्व प्रतिष्ठित है। जो बीत चुका, जो होने वाला है, जो कुछ हो रहा है, वह सब कुछ मैं हूँ, तीनों कालों में प्रतिष्ठित हूँ, मैं कालातीत हूँ। मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं, अतएव अद्वितीय हूँ, ऐसी भावना करे।

--*

पञ्चविंशतिवत्सरवयोऽहं निग्रहः पञ्चविंशतिमहावाक्यानां निवृत्तिभाष्यं लिलेख। स्वप्नकाले भगवता भास्करेणासावादित्यो ब्रह्मेति महावाक्यबोधनान्तरं तत्कृपया निवृत्तिभाष्यं रचयामास चान्ते पूर्वाचार्याणां निग्रहाणां प्रशस्तिः।

पच्चीस वर्ष की अवस्था में मुझ निग्रहाचार्य ने पच्चीस महावाक्यों पर निवृत्तिभाष्य का लेखन किया। स्वप्नकाल में भगवान् सूर्य के द्वारा 'असावादित्यो ब्रह्म', इस महावाक्य के बोधन के अनन्तर उनकी कृपा से निवृत्तिभाष्य की रचना की। अन्त में पूर्व के निग्रहाचार्यों की प्रशस्ति उल्लिखित है।

श्रीमच्छङ्करशेषवल्लभमधूच्छिष्टो महामोक्षदो
निम्बार्काभिनवादिशास्त्रनिपुणैराराधितस्सर्वदा।
रामानन्दसिताङ्गभक्तप्रवरैर्यो लोकसञ्चारितो
वेदान्तागमशास्त्रवाडवपतिः संरक्षको निग्रहः॥
श्रीमच्छैवदिवाकराच्युतपथे वैनायके श्रीकुले
श्रौतस्मार्तपुराणकौलभवने वर्णाश्रमे वर्णितम्।

आचार्यादिमहाजनाचरणसंदृश्ये सदालोकितम्
तच्छद्धर्मप्रसारणेऽग्रगतिमान् श्रीसद्गुरुर्निग्रहः॥

--* इति शम् *-*-*

प्रश्नकर्ता सागर ! कृपया इस श्लोक का सही अर्थ बतायें गुरुजी -

अस्वादितं न चान्येन भक्ष्यार्थे च ददाम्यहम्।
अधोभागे च मे नाभेर्वर्तुलौ फलसन्निभौ॥
(पद्मपुराण, १(१२६/३१/

यहां शिवजी के अंडकोष के भक्षण का वर्णन क्यों है ?

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु शिवदूती देवी के द्वारा अण्डकोष के भक्षण का विषय है। किसका अण्डकोष -? शिव का। ब्रह्माण्ड को भी अण्डकोष कहते हैं। अट्टहासभिन्नपद्मजाण्डकोषसन्ततिम्। जब विश्वरूप का वर्णन करते हैं तो द्यौस्ते शीर्ष आकाश आपका मस्तक है -, ऐसा कहते हैं। इस अनुसार पृथ्वी शिव की नाभि है और नाभि के नीचे, पृथ्वी के नीचे के लोक असुरों के हैं। शिवदूती देवी के द्वारा असुरों का भक्षण मार्कण्डेयपुराण आदि में वर्णित देवी चरित्र से सिद्ध है। भक्षिताश्चापरे कालीशिवदूतीमृगाधिपैः। ऐसे ही प्रत्येक अंग का अर्थ समझना चाहिए।

प्रश्नकर्ता सागर - ब्रह्मवैवर्तपुराण के कृष्णजन्मखण्ड में राधा जी के साथ श्रीकृष्ण के नग्न सम्भोगक्रीडा का वर्णन है -
तां च नग्ना समाश्लिष्य निममज्ज जले हरिः।
प्रकृत्याभ्यन्तरे क्रीडा सुतस्थौ च तया सह॥१३९॥
तां च नग्नां दर्शयित्वा गोपिका क्रीडया नताम्।
सस्मितां प्रेरयामास दूरतो यमुनाजले॥१४०॥
सा वेगेन समुत्थाय बलाज्जग्राह माधवम्।
गृहीत्वा मुरली कोपात्तोरयामास दूरतः॥१४१॥
गृहीत्वा पीतवसनं चकार तं दिगम्बरम्।
वनमालां च चिच्छेद ददौ तोयं पुनः पुनः॥१४२॥

आदि आदि इसके लिए क्या स्पष्टीकरण दिया जाए गुर ...ुजी ?

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु राधा और कृष्ण शाश्वत दम्पति हैं। दम्पति का सम्भोग करना कहाँ से अनुचित है -? इसमें क्या स्पष्टीकरण करना है ? प्रत्येक दम्पति सम्भोग करता ही है, और इसी प्रकार से करता है। इस मनुष्यलीला में भी ब्रह्मदेव के द्वारा उनका विवाह हुआ है, ऐसा पुराणों एवं संहिताओं में प्रमाण है।

प्रश्नकर्ता सागर मगर मनुष्यों जैसा सम्भोग -?

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु ते हैंमनुष्य का ही अवतार लिए हैं न। आप क्या चाह -, मनुष्य बने हैं तो घोड़ा जैसा करें ?

प्रश्नकर्ता सागर गोपियों के साथ भ -ी ? जैसा कि अन्तिम श्लोक में है ?

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु गोपियों ने उन्हें पति रूप में प्राप्त करने के लिए कात्यायनी व्रत किया था। नन्दगोपसुतं -
।(श्रीमद्भागवत) मःदेवि पतिं मे कुरु ते न

प्रश्नकर्ता सागर इसका मतलब सगुण ब्रह्म को कोई पति भी बना -सकता है ?

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु हां। ईश्वर में अपने पति को देखें -, पति में अपने ईश्वर को देखें तो सर्वभूतहृदय ईश्वर आपके पति हो जाएंगे। ये यथा मां प्रपद्यन्ते (तागी) ...

प्रश्नकर्ता सागर श्रीकृष्ण को ब्रह्मचारी योगेश्वर कहा जाता है तो दोनों -गुणों को काम क्रीडा से जोड़ना उचित होगा ?

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु ब्रह्मचारी योगेश्वर शब्द आर्य समाजी कहते हैं ताकि वे कह सकें कि ईश्वर सगुणावतार - नहीं लेता और16108 रानियों की बात मिलावटी है। जो स्वयं ब्रह्म है, और समस्त जीव जिसके अंश हैं, उसका ब्रह्मचर्य रमण से खण्डित नहीं होता। उनकी काम क्रीड़ा में कामदेव का रोल नहीं और साथ ही (श्रीमद्भागवत) अवरुद्धसौरतः -, कहा कि जैसे कोई अपने ही प्रतिबिंब से खेले, वैसे ही।

प्रश्नकर्ता सागर मगर श्रीकृष्ण तो नारायण ऋषि ही हैं -, जिन्होंने ब्रह्मचर्य और तपश्चर्या सिखाया। भगवद्गीता में भी संजय कहते हैं देवी राधिका और गोपियाँ उनके प्रतिबिंब हैं ... एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः -?

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु बनकर जब ऋषिकुल में थे वो नारायण ऋषि -, धर्मपुत्र होकर, तब ब्रह्मचर्य रहे। अभी गृहस्थी के रूप में हैं न। राधा जीव नहीं हैं, गोपियाँ जीव हैं। जीव प्रतिबिंब है। राधा जी अभिन्न शक्ति हैं, जैसे दूध और उसकी सफेदी, सूर्य और उसकी प्रभा। हम तो मान ही रहे हैं कि योगेश्वर हैं, लेकिन ब्रह्म और सगुणावतार भी मानते हैं। समाजी केवल योगेश्वर मानते हैं, महापुरुष जैसा, ईश्वर नहीं। भगवान् ने गीता में स्वयं को धर्म से अविरुद्ध काम भी तो बताया है।

प्रश्नकर्ता सागर क्या इसका मतलब ये हो सकता है कि एक जीवन्मुक्त के लिए भी ये नियम लागू होता है -? क्योंकि परमार्थ सत्य की दृष्टि से तो वो भी परब्रह्म हैं।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु भाई -, पद्मपुराण देखो। जितने ये सब जीवन्मुक्त ऋषि थे न, वे सब ही गोपियों के रूप में बाद में आये। और ऋषि एवं दृष्ट मन्त्र में अभेद हैं। निग्रहागम कहते हैं तयः सर्वा व्रजे गोपकुमारिकाः।एताश्च श्रु -

प्रश्नकर्ता सागर महाभारत के आश्वमेधिक पर्व -में श्रीकृष्ण कहते हैं परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया। क्या इसका - को परब्रह्म पर ध्यान केन्द्रित करना पड़ा गीतोपदेश देने के लिए (ईश्वर) ये मतलब है कि श्रीकृष्ण?

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु मया योगयुक्तेन तत् परं ब्रह्म हि कथितम्। मुझ -योगयुक्त के द्वारा वह परब्रह्म कहा गया। नरलीला करते समय भगवान् नित्य ब्राह्मी स्थिति का प्रदर्शन नहीं करते, इसीलिए अलग से समझा दिया कि ये सामान्य नरलीला नहीं कर रहा हूँ।

प्रश्नकर्ता सागर लेकिन उन्हें अगर अपने पूर्व जन्म की लीलाएं याद थीं तो उन्होंने ऐसा - क्यों कहा कि गीतोपदेश वापस सुनाना सम्भव नहीं है ?

अबुद्ध्वा यन्न गृहणीथास्तन्मे सुमहदप्रियम्।
नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधाश्चासि पाण्डव॥

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु न ने उसकी कद्र नहीं की। उनकी बुद्धि उस ज्ञान को नित्य धारण न कर क्योंकि अर्जु - सकी, अश्रद्दधान और दुर्मेधासि कहा उन्हें इसीलिए। यथावत् वह ज्ञान नहीं कह पाऊंगा, ऐसा कहा। अर्जुन इस अनुगीता के समय मोहग्रस्त नहीं हैं, उनके हाथ पैर नहीं कांप रहे, वे क्षात्रधर्म से विमुख नहीं हो रहे, इसीलिए उस शब्दविन्यास में पुनः कहना सम्भव नहीं। परिस्थितियों और मानसिकता में भेद है। हम समझते हैं कि आप आपको इतना समय पर्याप्त दिया गया। परोक्ष से शास्त्राध्ययन नहीं होता है। यह परंपरा से गुरुमुख का विषय है।

प्रश्नकर्ता सत्यम् शर्मा विष्णु पुराण पढ़ रहा था जिसमें गोवर्धन धारण के प्रसंग में श्लोक सं ! णामगुरुदेव प्र -ख्या ३८ ४४- में पशु बलि और मांस आदि से पूजा करने का वर्णन है। कृपया मार्गदर्शन करें ।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु ती है। जिसके जैसे संस्कार त्रिविधा भवति श्रद्धा। तीनों गुणों से युक्त श्रद्धा से अर्चना हो - होते हैं, वैसे ही गुणों वाली श्रद्धा से वह अर्चना करता है। ब्रजमंडल में सभी सात्विक ही हों, आवश्यक तो नहीं। तीनों विकल्प थे, जिसको जिसमें रुचि लगी, उसने वैसा किया।

प्रश्नकर्ता रंगराज नम्बी जय श्री कृष्ण स्वामी जी। -🙏

कुछ अनार्य समाजी आदि भ्रष्ट लोग मत्स्यपुराण के इन श्लोकों को अंग्रेजी अनुवाद सहित डालकर आक्षेप कर रहे हैं कि पौराणिक पण्डे वेश्यागामी थे, इसलिए पुराणों में यह सब जोड़ दिया। हमें लगता है कि ब्राह्मण तो अनेक प्रकार के होते हैं, आचारभेद से भी और विप्र, पतित आदि भेदों से भी। कृपया आप मार्गदर्शन कीजिये।

ततः प्रभृति यो विप्रो रत्यर्थं गृहमागतः।
स मान्यः सूर्यवारे च स मन्तव्यो भवेत् तदा ॥
एवं त्रयोदशं यावन्मासमेवं द्विजोत्तमान्।
तर्पयेत यथाकामं प्रोषितेऽन्यं समाचरेत्॥
तदनुज्ञया रूपवान् यावदभ्यागतो भवेत्।
आत्मनोऽपि यथाविघ्नं गर्भभूतिकरं प्रियम्॥
दैवं वा मानुषं वा स्यादनुरागेण वा ततः।
साचारानष्टपञ्चाशद् यथाशक्त्या समाचरेत्॥

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु श्रीमन्नारायण। ये किसने बताया है -? इन्द्र ने दानव स्त्रियों के लिए बताया है। दानवों में व्यभिचार सामान्य बात है। और किनके लिए बताया है ? वेश्याओं के लिए बताया है। जो कुलानुगत रूप से वेश्या हैं, उस वृत्ति से इतर नहीं हो सकती हैं, परिसंख्या विधि से वे भी अनुष्ठान आदि करके अपने किल्विष से मुक्त हो, अगले जन्म में श्रेष्ठ कुल में जाएं, इस हेतु। प्रत्येक ब्राह्मण के लिए यह अनुष्ठान उत्तम और अनिवार्य तो नहीं बताया है न। अधर्म जब व्यक्ति से न छूट सके तो उसे एक निश्चित मात्रा और विधि से बांधकर धीरे धीरे नियंत्रित उपरति कराना परिसंख्या विधि है। वेश्यावृत्ति में लिप्त जनों के लिए श्रुतिसम्मत विधान का अधिकार नहीं है, ऐसे में उनके द्वारा भी यजन पूजन सम्पन्न हो सके, एतदर्थ अनङ्गदान व्रत आदि का विधान बताया।

प्रश्नकर्ता आचार्य कौशलेन्द्रकृष्ण की प्राप्ति कैसे होती है (जन्म मृत्यु के चक्र से) जन्तुओं को मुक्ति !प्रभु -? जहाँ तक हम समझते हैं कि पापाधिक्य से जन्तुयोनि मिलती है, पाप पुण्य के सम होने से मानव योनि। मानव योनि के उपरान्त ही जीव की मुक्ति सम्भव है, या ईश्वर अनुग्रह से। तो ईश्वर अनुग्रह प्राप्त तथा विलक्षण जीवों को यदि इस श्रेणी में न लें तब तो जीव की मुक्ति मानवीय सोपान के उपरान्त ही होगी। कृपया प्रकाशित करें।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु मानवीय योनि एक अर्हता है -, निश्चितता नहीं। आप परीक्षा में बैठने के लिए अधिकृत हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि आप उसमें उत्तीर्ण भी हो जाएंगे। अन्य योनियों में परीक्षा में बैठने की योग्यता ही नहीं। यदि तीर्थबल, नामबल आदि से कुछ हो जाये तो अलग बात। मनुष्य परीक्षा में बैठने योग्य है, उत्तीर्ण होना लक्षण पर है। गीता के सातवें अध्याय में मनुष्याणां सहस्रेषु वाला श्लोक देखें।

प्रश्नकर्ता केशव अरोड़ा फेरों का ही वैदिक विधान है न कि ४ फेसबुक पर कुछ पण्डितों का कहना है कि विवाह में !प्रणाम - यदि समय हो इस विषय !फेरे चलते आए हैं। प्रभु ७ यहां चार पांच पीढ़ियों से फेरों का। मेरे ७पर भी प्रकाश डालें।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु उनका कहना सर्वथा सही है। वेदोक्त विधान और गृह्यसूत्रों में चार का ही विधान है। चार - फेरे, साथ वचन और सात पद। यही विधान है। यह वेदाचार है। आचार के चार भेद हैं वेदाचार -, देशाचार, लोकाचार, कुलाचार। जैसे बंगाल में स्त्री का शंख वादन उनका देशाचार है। कुलाचार और लोकाचार में कहीं कहीं सात फेरे होते हैं, अब फिल्मों के प्रभाव से लगभग सर्वत्र ही सात फेरे होने लगे हैं। किन्तु वेदोक्त मन्त्रपूर्वक तो चार फेरे ही विहित हैं। विवाद से बचने के लिए शेष तीन लेना हो तो बिना मन्त्र के ले सकते हैं किन्तु उसकी धार्मिक मान्यता नहीं है। लेकिन ऐसा करने से इस भ्रम को और बल ही मिलेगा।

प्रश्नकर्ता दशरथ प्रसाद सिंह रीरिक संभोग हुआ थाक्या महारास में भी गोपियों के साथ शा ! गुरुजी -? पर अन्य विद्वान कहते हैं कि कृष्ण की आयु बालक की थी अतएव संभोग नहीं हुआ। सत्य क्या है, शास्त्रों के अनुसार ?

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु सम्भोग का अर्थ यदि गर्भाधान है -, तो उसका स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता। यदि उसका अर्थ प्रेमालाप और आंशिक रतिक्रीड़ा है तो उसका वर्णन मिलता है। भगवान की शक्ति अवस्थातीत है। वे गोवर्धन उठाने का सामर्थ्य रखते हैं तो रतिक्रीड़ा का क्यों नहीं ? और गोपियों ने कात्यायनी व्रत के माध्यम से उन्हें पतिरूप में ही पाने का वर मांगा था। हां, पूर्ण गर्भाधानपूर्वक सम्भोग का वर्णन नहीं है।

जो व्यक्ति यह कहते हैं कि मेरा शरीर, मैं चाहे जैसे कपड़े पहनूँ मेरा शरीर ..., मैं चाहे जो खाऊं मेरा शरीर ..., मैं चाहे जिससे शारीरिक सम्बन्ध बनाऊं, आदि आदि अमर्यादित उच्छृंखलता की बातें करते हैं हमें इसका अधिकार चाहिए ..., हम ये नहीं मानते, वो नहीं मानते, आदि आदि कहते हैं, यही व्यक्ति हमारे शास्त्रों में वर्णित कथानकों में आपत्ति करते हुए कहते हैं कि राम ने ऐसा क्यों किया, कृष्ण ने ऐसा क्यों किया। ये स्वयं की इच्छा से प्रकृति के एक अणु के भी नैसर्गिक व्यवहार पर नियन्त्रण नहीं कर सकते किन्तु प्रकृतिनियन्ता ब्रह्म की लीलाओं को अपनी अपेक्षा के अनुसार नचाना चाहते हैं। यदि आपका शरीर, आपकी इच्छा, आपकी स्वतन्त्रता है तो राम और कृष्ण ने जो किया, वो उनका शरीर, उनकी इच्छा, उनकी स्वतन्त्रता है। यदि आप फ्री सेक्स को प्रगतिशील और निजी स्वतन्त्रता का विषय मानते हैं तो परम जड़बुद्धि से ही देखने पर आपको कृष्णचरित्र की यद्य)पि वह भौतिक काम नहीं, फिर भीरासलीला को भी प्रगतिशील ही मानना चाहिए (, उस पर आक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं।

जो कर्मबद्ध लोग जीवन में उच्छृंखल और अनुशासनहीन हैं, वे कर्मातीत ईश्वरीय लीलाओं पर उपहास करते हैं जबकि जो कर्मबद्ध लोग जीवन में शास्त्रोचित अनुशासन का पालन करते हैं, वे कर्मातीत ईश्वरीय लीलाओं को ब्रह्म का लोकवैभव समझकर नमन करते हैं। आधुनिक भौतिकवादियों को अपने लिए सभी प्रकार की अनुशासनहीनता चाहिए किन्तु ये चाहते हैं कि हमारे आराध्य इनकी अपेक्षाओं के अनुसार चलें। अच्छा, ये केवल हमारे आराध्यों के ही विषय में आक्षेप करते हैं, अन्य मतों की ओर ये देखते भी नहीं, जबकि उनके आदर्श जो कुकृत्य कर गए, उसका समर्थन और प्रयोग आज भी पर्याप्त बाहुल्य में देखने को मिलता है। यद्यपि मैं अपने वक्तव्य एवं लेखों में बलरामजी के वारुणी सेवन एवं श्रीकृष्ण की रासलीला का स्पष्टीकरण दे चुका हूँ किन्तु क्या यह आश्चर्यजनक नहीं कि अपने लिए फ्री सेक्स और फ्री बूज़ का नारा लगाने वाले ये भौतिकवादी इन्हीं से सम्बन्धित विषयों के लेकर हमारे शास्त्रों पर आक्षेप करते हैं। फ्री पॉर्न का समर्थन करने वाले किस मुंह से कहते हैं कि पुराणों में अश्लीलता है ? जो जीवन में शास्त्राचार से रहित हैं, अश्रद्धा और असूया से ग्रस्त हैं, वे ईश्वरीय कृत्यों को तत्त्वतः वैसे ही नहीं समझ सकते जैसे कोई व्यक्ति पैदल चलकर समुद्र के पार नहीं जा सकता।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

विवाह के समय श्रीरामचन्द्र जी की आयु कितनी थी ?

पूर्वपक्ष श्रीराम का सीताजी से विवाह लगभग - (स्वामी सूर्यदेव)24 वर्ष में हुआ था और उस समय मां सीताजी की आयु लगभग 16 वर्ष थी। प्रमाण के लिए वाअरण्य में सीताजी का रावण के साथ जो संवाद हुआ .रा ., उसमें से दो श्लोक रख रहा हूँ।

1:- उषित्वा द्वा दशसमः इक्ष्वाकुुणाम निवेशने,

भुंजानां मानुषान भोगतसेवकाम समृद्धिनी।।

अर्थात् अर्थात दशरथ के यहां दो वर्षों में उन्हें हर (दशसमः) इसमें सीताजी रावण से कहती हैं कि इक्ष्वाकु कुल के राजा - नवों के लिए उप्रकार के वे सुख जो मापलब्ध हैं, मुझे प्राप्त हुए।

इसका मतलब है विवाह के बाद दो वर्ष अयोध्याससुराल में रहीं सीताजी।/

अब दूसरा श्लोक देखिए-

ममभर्ता महातेजा वयसा पंचविंशक,

अष्टादश हि वर्षिणी नान जन्मनि गण्यते (अरण्य)

अर्थात इस श्लोक में माँ सीता रावण से कहती हैं कि वनवास प्रस्थान के समय मेरे तेजस्वी पति की आयु पच्चीस वर्ष थी और उस समय जन्म से मैं अठारह वर्ष की थी। अतः विवाह की आयु श्री राम जी की लगभग 23-24 वर्ष और सीताजी 16 वर्ष।

अन्य उदाहरण से स्पष्ट करें....

उनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचन।:

न युद्धयोग्यतामास्य पश्यामि सहराक्षसौ॥

(वाल्मीक रामायण २० सर्ग/ बालकाण्ड/, श्लोक २(

क्योंकि भगवान राम ऋषि विश्वामित्र के साथ चौदह से सोलह वर्ष की उम्र में गए थे और उसके बाद ही उनका विवाह हुआ था। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रभु श्रीराम का विवाह सोलह वर्ष के उपरान्त हुआ था।

उत्तरपक्ष निग्रहाचा)र्य श्रीभागवतानंद गुरुआर्यसमाजी श्लोकों को तोड़मरोड़ कर मनमाने ढंग से प्रस्तुत करके के लिये - (कुख्यात हैं। आपके द्वारा प्रस्तुत श्लोकों की वर्तनी व्याकरण एवं पाठ की दृष्टि से अशुद्ध है अतएव इनका शुद्ध अर्थ कहे गए श्लोक लगाना सम्भव नहीं है। सीताजी के द्वारा में 'द्वा दशसमः' शब्द नहीं, 'द्वादशसमाः' है। समाः वर्ष के बहुवचनार्थ में है तथा द्वादश शब्द के साथ युक्त है। सही श्लोक है -

उषित्वा द्वादश समा इक्ष्वाकूणां निवेशने।

भुञ्जानान्मानुषान्भोगान्सर्वकामसमृद्धिनी॥

इस श्लोक का अर्थ है कि क्ष्वाकुवंशियमैंने इ" -ोे के घर में मानवोचित सुखों का उपभोग करते हुए बारह वर्ष (अयोध्या) व्यतीत किये। यहाँ दश शब्द का अर्थ दशरथ लगाना बहुत अधिक हास्यास्पद है। द्वादशसमाः शब्द है, जिसका अर्थ है - बारह वर्ष। इस अर्थ की संगति ठीक अगले श्लोक से लग जायेगी, जहाँ सीताजी कहती हैं -

ततस्त्रयोदशे वर्षे राजामन्त्रयत प्रभुः।

अभिषेचयितुं रामं समेतो राज मन्त्रिभिः॥

अर्थात् उसके बाद -'तेरहवें' वर्ष में राजा ने राजमन्त्रियों के साथ मिलकर रामजी का राज्याभिषेक करने की मन्त्रणा (दशरथ) की।

इस दोनों श्लोकों की टीका में रामायणभूषणकार श्रीगोविन्दराज जी स्पष्ट करते हैं द्वादशवत्सरानुषित्वा - द्वादशसमाः - बारह वर्ष रहकर। यहाँ द्वा का अर्थ दो एवं दशसमा का अर्थ दशरथ लगाना घोर आर्यसमाजी शैली का अज्ञान है। - अर्थात्

अब अगले प्रमाण की समीक्षा करते हैं, जिसमें भी आपने अशुद्ध वर्तनी का श्लोक लिखा है। शुद्ध श्लोक यह है, जिसमें भगवती सीताजी कहती हैं -

मम भर्ता महातेजा वयसा पञ्चविंशकः।
अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते॥

अर्थात् मेरे महान् तेजस्वी पति की अवस्था पच्चीस वर्ष की थी और मेरे जन्म से मेरी अवस्था अठारह वर्ष की थी। यहाँ - द्वादश में द्वा को अलग करके दो वर्ष समझना दश का अर्थ दशरथ कर देना और अठारह में उसे घटाकर सोलह कर देना व्याकरण की अपुष्टता दिखाता है।

पूरे प्रसङ्ग को देखें तो वहाँ यह श्रीराम जी के वनवास में जाने का कारण बता रही हैं। गोविन्दराज जी ने रामायणभूषण में लिखा है वयः परिमाणं -वननिर्गमनकालिकम्। यह अवस्था वन में जाने के समय की है। आगे लिखते हैं सीतायाश्च - भूगर्भादाविर्भावानन्तरं मिथिलायां षट्संवत्सरास्ततो विवाहानन्तरमयोध्यायां द्वादश इत्येवमष्टादश वर्षा गता। सीताजी के भूमि से निकलने के बाद6 वर्ष मिथिला में बीते और विवाह के बाद अयोध्या में बारह वर्ष व्यतीत हुए, ऐसे कुल अठारह वर्ष की अवस्था में वनवास हुआ।

मारीच ने अरण्यकाण्ड में रावण को कहा है कि जब विश्वामित्र जी राजा दशरथ के पास रामजी की याचना करने गए थे तो राजा दशरथ ने कहा -

ऊनद्वादशवर्षोऽयमकृतास्त्रश्च राघवः॥

मेरा पुत्र राघव उनद्वादश वर्ष का एवं अस्त्रज्ञान में अपरिपक्व है। (ग्यारह - बारह से एक कम)

यद्यपि मारीच का यह कथन उतना सही नहीं है, क्योंकि वह उस घटना का प्रत्यक्षदर्शी नहीं था, अपितु सुनी सुनायी बात कह रहा था। वस्तुतः राजा दशरथ ने कहा था -

ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः।
न युद्धयोग्यतामस्य पश्यामि सह राक्षसैः॥
(रामायण, बालकाण्ड, सर्ग २० -, श्लोक (०२ -

मेरा पुत्र कमलनयन राम उनषोडश वर्ष का है। मैं नहीं समझता कि यह राक्षसों से युद्ध करने योग्य है। (सोलह से कम)

इस प्रकार सिद्ध होता है कि श्रीराम जी की अवस्था विवाह के समय सोलह वर्ष से कम की थी एवं सीताजी छः वर्ष की थी। विवाह के बाद दोनों अयोध्या में बारह वर्ष तक रहे एवं क्रमशः पच्चीस तथा अठारह वर्ष की अवस्था में उन्हें वनवास मिला। हाँ, सन्तान की प्राप्ति उन्हें रामजी के चालीस वर्ष होने पर ही हुई थी। (रावण वध के बाद)

राजा ने कहा कि सोलह से कम वर्ष है मेरे पुत्र का। सोलह वर्ष को यौवन का प्रारंभ मानते हैं, अभी युवा नहीं हुआ है। बारह वर्ष की अवस्था में रामजी विश्वामित्र के साथ गए थे।

रामस्य जन्मारभ्य द्वादशे वर्षे विश्वामित्रागमनम्। तदनन्तरं वैदेह्या सह नगरे द्वादशवर्षाणि वासं कृतवान्। ततः परं त्रयोदशे वर्षे यौवराज्याभिषेकारम्भः। ततश्च वनप्रवेशसमये रामः पञ्चविंशतिवर्षार्हः।
(रामायणभूषण(

रामजी के जन्म से बारहवें वर्ष में विश्वामित्र आये। फिर राम जी बारह वर्ष और सीताजी के साथ अयोध्या में रहे और

तेरहवें वर्ष में उन्हें युवराज बनाने की बात हुई तो कुल पच्चीस वर्ष की उनकी अवस्था वनगमन के समय थी। बहुत से लोग आधुनिक विवाह आयु के अनुसार इस बात को पचा नहीं पा रहे, और इस बात पर आपत्ति एवं अविश्वास कर रहे हैं, कह रहे हैं कि ऐसा कैसे हो सकता है, वे स्मरण रखें कि सीताजी अयोनिजा थीं, भूमि से प्रकट हुईं और भूमि में ही लीन हो गयी थीं। सामान्य व्यक्ति के नियम और परिवर्तनशील कानून के अनुसार वे नहीं चलते। अग्निप्रवेश के बाद भी उन्हें कुछ नहीं हुआ। मानवीय दृष्टि से अमानवीय तत्त्वों की समीक्षा नहीं की जा सकती।

देखिए, बात ऐसी है कि विवाह के समय श्रीराम जी बारह और सीताजी छः वर्ष के ही थे। लेकिन राम जी 55 वर्ष के नहीं थे और सीताजी उनके मित्र की पुत्री नहीं थी। श्रीराम जी ने सीताजी से उनकी, उनके मातापिता, अपने मातापिता, अपने गुरुदेव और अन्य की सहमति से, वीर्यशुल्क स्वयंवर के माध्यम से निश्चित मानक का पराक्रम सिद्ध करके विवाह किया था। और वे सीताजी के नौ वर्ष के होने पर सन्तान उत्पन्न करने नहीं लग गये थे, सन्तान का प्रसङ्ग तो रावण वध के बाद आता है।

जो आर्यसमाजी रामायण के अगले पिछले श्लोकों को छिपाकर, समास को तोड़कर बिल्कुल विपरीत अर्थ करके सीताजी को विवाह के समय सोलह वर्ष का सिद्ध करने का कुप्रयास कर रहे हैं, ताकि म्लेच्छजन इनपर आरोप न लगाएं, उनसे मैं कहूंगा कि यदि परम्परा से शास्त्रों का अध्ययन न हो तो चुप रहें। । आपके दयानंद सरस्वती तो"बिल्कुल चुप रहें"24 वर्ष की कन्या का विवाह 48 वर्ष के पुरुष के साथ करवा रहे थे, आपके ही साहित्य कहते हैं। इसीलिए सनातन धर्म और उसके शास्त्रों में कुछ न बोलें। भारत में जितनी लड़कियां लव जिहाद का शिकार हो रही हैं, उनमें 90% आर्य समाज का ही हाथ है, यही संस्था सबका विवाह करा रही है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु
Nigrahacharya Shri Bhagavatananda Guru

यह अत्यन्त खेद का विषय है कि भारत की पावन भूमि पर बहुसंख्यक सहिष्णु सनातनी हिन्दू समाज को अपने ही धर्मस्थलों की मर्यादा एवं अधिकार की रक्षा हेतु संघर्ष करना पड़ रहा है। ज्ञानवापी काशी विश्वेश्वर मन्दिर में नित्य यथोपचार पूजन अर्चन प्रारम्भ हो, यही न्यायोचित है। जैसा कि ऐतिहासिक लिखित प्रमाण हैं कि ज्ञानवापी भगवान् शिव का शाश्वत मन्दिर है, जिसे ध्वंस करने का आदेश औरंगजेब ने दिया था एवं आज भी उस स्थान पर पर्याप्त से अधिक मात्रा में सनातनी देवालय के स्थापत्य, विग्रह, चिह्न एवं प्रतिमान स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष हैं, यह शासन का नैसर्गिक कर्तव्य बनता है कि शास्त्रोक्त विधि से शोधनपूर्वक वहाँ नित्यार्चन प्रारम्भ कराया जाये।

यदि फिर भी विधिक संस्थाओं एवं शासन को लगता है कि स्थल विवादित है एवं न्यायालय के स्पष्ट निर्णय तक प्रतीक्षा करनी चाहिए तो इस अनुसार अविलम्ब वहां पर मुसलमानों के प्रवेश पर भी सर्वथा रोक लगाकर स्थल को सुरक्षित किया जाये ताकि दोनों पक्षों के प्रति संविधान की समदृष्टि सिद्ध हो। सभी भौतिक एवं ऐतिहासिक प्रमाणों के स्पष्ट प्रत्यक्ष होने के बाद भी प्रशासन का हिन्दू वर्ग को अनुचित रूप से अर्चना से वर्जित रखते हुए आक्रमणकारियों के समुदाय को नमाज़ की अनुमति प्रदान करना सनातनी समाज के ऊपर शासन समर्थित अन्याय है जिसका अवश्यमेव प्रतिकार होना चाहिए।

इस विषय में शासन एवं विधिक संस्थाएं **Swaamishreeh avimukteshwaraanandah स्वामिश्रीः अविमुक्तेश्वरानन्दः** सरस्वती जी की न्यायसम्मत मांग को स्वीकार करके उनके अनशन को भंग कराएं एवं या तो दोनों पक्षों को अपने अपने अनुसार अर्चना की अनुमति दें अथवा पूरे स्थल को न्यायिक प्रक्रिया के पूर्ण होने तक प्रतिबन्धित रखें, यही स्वस्थ समाधान है। सनातनी धरा पर सनातनी देवस्थलों के प्रति ऐसा कालुष्यपूर्ण व्यवहार सरकार और समाज के हित में नहीं है। जहाँ पर पूजनीयों का पूजन नहीं होता, वहाँ दारिद्र्य, भय एवं मरण निश्चित है, ऐसा देवी सती का वचन है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

प्रश्नकर्ता अर्जुन ने अपनी ममेरी बहन सुभद्रा से कैसे विवाह किया -? क्या यह धर्मसम्मत है ?

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु इसके उत्तर हेतु आपको दो दृष्टिकोण समझने होंगे। वसुदेव जी की बहन -, जिसका नाम पृथा था, उसे अत्यन्त बाल्यकाल में ही राजा कुन्तिभोज ने गोद ले लिया था। वही पृथा बाद में कुन्ती के नाम से प्रसिद्ध हुई, जिनके तीसरे पुत्र अर्जुन थे। पृथा और कुन्ती दोनों नाम प्रसिद्ध हैं, अर्जुन को भी पार्थ एवं कौन्तेय कहा गया है। ऐसे तो आचार्य कुमारिल भट्ट ने तन्त्रवार्तिक में इस प्रकार के सन्दिग्ध प्रकरणों का पर्याप्त समाधान कर दिया है तथा श्रीमद्भागवत के रासपञ्चाध्यायी में आये शुकवाक्य -

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत्स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत्समाचारेत्॥

से भी ईश्वरीय क्षमता वाले तत्त्वों के कुछ आचरण लोकदृष्टि से गर्हित होने पर भी 'वह्निः सर्वभुजो यथा' एवं 'यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्' आदि उक्तियों के आधार पर तत्सापेक्ष स्वीकृत किये जाते हैं। किन्तु जब बाल्यकाल में ही पृथा को राजा कुन्तिभोज ने गोद ले लिया था तो वृष्णिकुल से उनका दैहिकसमाप्त हो गया था एवं उनका कुलगोत्रादि धार्मिक सम्बन्ध- कुन्तिभोज के अनुसार हो गया। सामान्य सौहार्द्र होना अलग बात है किन्तु धार्मिक आपत्ति का लोप हो गया। दूसरी बात, देवी शाण्डिलिनी भगवती लक्ष्मी के शाप से अप्सरायोनि में होते हुए वसुदेव जी की पुत्री के रूप में जन्म लेकर तुरन्त ही मृत्यु को प्राप्त होकर, पुनः वसुदेव जी की ही सुप्रभा नाम की पत्नी के गर्भ से पुत्री के रूप में घोड़े के समान मुखाकृति के साथ जन्म लेती हैं, यह बात हरिवंश पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण एवं स्कन्दपुराण आदि के अध्ययन से स्पष्ट होती है। पूरा कथानक बताने से प्रसङ्गविस्तार का भय है, जिज्ञासु सम्बन्धित ग्रन्थों में प्रकरण देख सकते हैं।

तृतीया सुप्रभानाम वसुदेवप्रिया च या।
तस्यां सा माधवी जज्ञे अश्ववक्त्रस्वरूपधृक्॥
*****
एवं सा यौवनोपेता तथा दुःखसमन्विता।
न कश्चिद्वरयामास वाजिवक्त्रां विलोक्य ताम्॥
*****
विष्णुरुवाच
एषा मे भगिनी देव जाताऽश्ववदना किल।
तव प्रसादात्सद्वक्त्रा भूयादेतन्ममेप्सितम्॥
श्रीब्रह्मोवाच
एषा शुभानना साध्वी मत्प्रसादाद्भविष्यति।
सुभद्रा नाम विख्याता वीरसूः पतिवल्लभा॥
(स्कन्दपुराण, नागरखण्ड, अध्याय (८४ -

उपर्युक्त श्लोकों में मैंने कथानक का सार सङ्केत किया है कि कैसे सुभद्रा देवी को लक्ष्मीशापजन्य अश्वमुखी दोष से मुक्त कराने हेतु बलदेवजी की सम्मति से भगवान् श्रीकृष्ण ने ब्रह्मदेव की तपस्या की और ब्रह्मदेव ने वरदान दिया कि सुभद्रा देवी शुभानना हो जाएंगी तथा अपने पति को प्यारी और वीर सन्तान को जन्म देने वाली भी होंगी। इसी प्रसङ्ग में आगे उल्लेख है कि ब्रह्मदेव ने कहा कि जो इस क्षेत्र में अश्वमुखी रूप से ही उनकी अर्चना करेगा, वही सुभद्रा का पति होगा, जो कि बाद में अर्जुन बने।

अब लोकोत्तर दृष्टिकोण पर चर्चा करते हैं। धृतराष्ट्र महाराज महाभारत के प्रारम्भ में ही कहते हैं -

यदाऽश्रौषं नरनारायणौ तौ
कृष्णार्जुनौ वदतो नारदस्य।
अहं द्रष्टा ब्रह्मलोके च सम्यक्
तदा नाशंसे विजयाय सञ्जय॥
(महाभारत, आदिपर्व, प्रथम अध्याय(

हे संजय वतरित हुए हैंमैंने जब नारद के मुख से सुना कि नर और नारायण ही अर्जुन एवं कृष्ण के रूप में अ !, तभी मैंने कौरवों के विजय की आशा छोड़ दी थी।

तथा नारायणो राजन्नरश्च धर्मजावुभौ।
जातौ कृष्णार्जुनौ काममंशौ नारायणस्य तौ॥
(श्रीमद्देवीभागवतपुराण, स्कन्ध ०६ -, अध्याय (१० -

ब्रह्मणावतारितौ विप्रा नरनारायणावुभौ।
कृष्णार्जुनौ तदा मर्त्ये द्वापरान्ते द्विजोत्तमाः॥
(स्कन्दपुराण, नागरखण्ड, अध्याय (१५२ -

इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि धर्मदेव एवं मूर्तिदेवी के संयोग से जो नरनारायण अवतार हुआ था, उन्हीं भगवान् नारायण एवं नर के अवतार श्रीकृष्ण एवं अर्जुन हैं।

श्वेताश्वतरोपनिषत् कहते हैं प्रेरितारञ्च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविभोक्ता भोग्यं -धं ब्रह्ममेतत् ॥ भोक्ता(ब्रह्म एतत्), भोग्य, एवं प्रेरक भाव से त्रिविध ब्रह्म समझना चाहिए। सरलतम भाषा में इन्हें जीव, माया और ब्रह्म अथवा पशु, पाश एवं पशुपति भी कह सकते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषत् छठे अध्याय में यह भी कहते हैं परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते -स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥ ज्ञानशक्ति, बलशक्ति एवं क्रियाशक्ति उसमें शाश्वत रूप से स्वभावतः रहती हैं। इसका समर्थन अन्य ग्रन्थ भी करते हैं। सीतोपनिषत् में भगवान् ब्रह्मदेव भी श्रीसीताजी को इनकी निमित्तभूता बताते हैं -

इच्छाज्ञानक्रियाशक्तित्रयं यद्भावसाधनम्।
तद्ब्रह्मसत्तासामान्यं सीतातत्त्वमुपास्महे॥
(सीतोपनिषत्(

वैष्णव, शाक्त, शैव आदि सभी इस विषय में एकमत हैं -

ततः परापरा शक्तिः परमा त्वं हि गीयसे।
इच्छाशक्तिः क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिस्त्रिशक्तिदा॥
(श्रीमद्देवीभागवतमहापुराण, स्कन्ध १२ -, अध्याय ०५ -, श्लोक (१६ -

एतामेव परां शक्तिं श्वेताश्वतरशाखिनः॥
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चेत्यस्तुवन्मुदा।
ज्ञानक्रियेच्छारूपं हि शम्भोर्दृष्टित्रयं विदुः॥
(शिवपुराण, कैलाससंहिता, अध्याय १६(

श्वेताश्वतर श्रुति में वर्णित यह शक्तित्रयी ही भगवान् शिव के तीनों नेत्रों के रूप में दृष्टिगत होते हैं। मङ्गलमय ब्रह्म में यह शक्तियाँ अनन्त हैं, इनका प्रयोग करने पर यह समाप्त नहीं होती -

ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिः कर्तृताऽकर्तृतापि च । इत्यादिकानां शक्तीनामन्तो नास्ति शिवात्मनः॥
(योगवासिष्ठ महारामायण, निर्वाणप्रकरणपूर्वार्द्ध-, सर्ग३७ - , श्लोक (१६ -

इसमें भगवान् नारायण की जो क्रियाशक्ति हैं, वे पराविद्या की स्वामिनी, चिन्मयी और शुद्धा हैं।

साक्षाद्विष्णोः क्रियाशक्तिः शुद्धसंविन्मयी परा।
(अहिर्बुध्न्य संहिता, अध्याय (१६ -

और वह क्रियाशक्ति जब ज्ञानबलवीर्यादि षडैश्वर्य से युक्त होकर साकार होती हैं तो अग्निवर्णा प्रदीप्ता होती है।

या सा षाड्गुण्यतेजःस्था क्रियाशक्तिः प्रकाशिता।
आग्नेयं रूपमाश्रित्य सा धत्ते पौरुषं वपुः॥
(लक्ष्मीतन्त्र, अध्याय ३१ -, प्रथम श्लोक(

शैवमत में आचार्य नकुलीश पाशुपत सूत्र -'क्रियाशक्तिः मनोजवित्वाद्या' के आश्रय से कहते हैं एषा क्रियाशक्तिः। - अस्वतन्त्रं सर्वं कार्यम्। मन की इच्छाशक्ति के वशीभूत होने से क्रियाशक्ति में स्वातन्त्र्य नहीं है।

अब हम पूर्व प्रसङ्ग पर लौटते हैं। स्वातन्त्र्य ब्रह्म का धर्म है और परतन्त्रता जीव का लक्षण। यद्यपि एक ही चेतन कर्ता-भोक्ता भाव से जीव, कर्ताअभोक्ता भाव से ब्रह्मसंज्ञक हो जाता है किन्तु विशेषतः -अभोक्ता भाव से आत्मा एवं अकर्ता-प्रतिबिम्बित जीव परतन्त्रता वाली क्रियाशक्ति से युक्त रहता है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवती राधिका को बताया है कि कैसे वे सर्वव्यापी होकर भी निर्लिप्त और अकर्ता बने रहते हैं एवं उनका प्रतिबिम्बित जीव कर्ताभाव एवं भोक्ताभाव से लिप्त रहता है।

अहं सर्वान्तरात्मा च निर्लिप्तः सर्वकर्मसु।
विद्यमानश्च सर्वेषु सर्वत्राऽदृष्ट एव च॥
वायुश्चरति सर्वत्र यथैव सर्ववस्तुषु।
न च लिप्तस्तथैवाहं साक्षी च सर्वकर्मणाम्॥
जीवो मत्प्रतिबिम्बश्च सर्वत्र सर्वजीविषु।
भोक्ता शुभाशुभानां च कर्ता च कर्मणां सदा॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, अध्याय (६७ -

अब ब्रह्म में कथित श्वेताश्वतरोपनिषत् की त्रिब्रह्म अर्जुन की बात करते हैं। पूर्व - नर/श्रीकृष्ण एवं जीव - नारायण/एवं त्रिशक्ति की श्रुतियों के आधार पर विवक्षा करने से भगवान् नारायणजगन्नाथजी ब्रह्म की ज्ञानशक्ति के/, भगवान् बलरामर्जुन का बलभद्र ब्रह्म की बलशक्ति के तथा भगवती सुभद्रा ब्रह्म की क्रियाशक्ति के सगुणावतार सिद्ध होते हैं। अ/ जीवत्व सिद्ध है ही।

साथ ही ब्रह्मसूत्र के कर्त्रधिकरण के अन्तर्गत कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्। उपादानाद्विहारोपदेशाच्च। व्यपदेशाच्च क्रियायां न " आदि सूत्रों के भाष्य में भगवान् श्रीशङ्कराचार्य "चेन्निर्देशविपर्ययः। उपलब्धिवदनियमः। शक्तिविपर्ययात् तद्गुणसारत्वाधिकारेणैवापरोऽपि जीवधर्मः प्"रपञ्च्यते। कर्ता चायं जीवः स्यात्कस्मात् शास्त्रार्थवत्त्वात् इतश्च जीवस्य .... इतश्च ... कर्तृत्वं यदस्य लौकिकीषु वैदिकीषु च क्रियासु कर्तृत्वं व्यपदिशति शास्त्रं विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि चेति आदि वच "व्यतिरिक्तो जीवः कर्ता भवितुमर्हतिविज्ञाननों के माध्यम से जीव के कर्तृत्व की मीमांसा प्रस्तुत करते हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में श्रीकृष्णवाक्य से ब्रह्म का अकर्तृत्व एवं जीव का कर्तृत्व सिद्ध हो ही गया है। योगवाशिष्ठ के निर्वाणप्रकरण के प्रमाण से क्रियाशक्ति का अकर्तृत्वयुक्त चेतन एवं कर (ब्रह्म)ृतृत्वयुक्त चेतन दोनों में स्थित होना (जीव) सिद्ध है। पाशुपतसूत्र के प्रमाण से कर्ता जीव की क्रियाशक्ति परतन्त्र ही है। तो इस वेदान्तागम मीमांसा से कर्ता जीव अर्जुन की नैसर्गिक सहधर्मिणी, क्रियाशक्ति की सगुणावतारिणी सुभद्रा जी का होना अपेक्षित है। प्रत्येक सगुणावतार अपनी नैसर्गिक सहधर्मिणी के साथ ही पूर्ण होता है। जब वह शिव होगा तो साथ में पार्वती ही होगी। जब वह नारायण होगा तो साथ में लक्ष्मी ही होगी। जब वह सविता होगा तो साथ में सावित्री होगी ही। ऐसे ही जब वह अर्जुन होगा तो साथ में सुभद्रा होगी ही। कोई भी तत्त्व अपनी शक्ति के बिना नहीं रह सकता। जैसा कि भगवान् अहिर्बुध्न्य रुद्र देवर्षि नारद को बताते हैं -

नैव शक्त्या विना कश्चिच्छक्तिमानस्ति कारणम्।
न च शक्तिमता शक्तिर्विनैका व्यवतिष्ठते॥
(अहिर्बुध्न्यसंहिता, अध्याय (०६ -

अतः लोकदृष्ट्या एवं लोकोत्तरदृष्ट्या भी नरावतार कर्ता जीव अर्जुन का क्रियाशक्तिस्वरूपिणी सुभद्रा जी से विवाहित होना समीचीन है, ऐसा समझना चाहिए।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु
Nigrahacharya Shri Bhagavatananda Guru

प्रश्नकर्ता श्री अरुण उपाध्याय जी एक प्रश्न कई -लोगों से पूछा। इसका उत्तर नहीं मिला। इस पर विचार कीजिएगा। इन वेदस्तुति का स्रोत क्या है तथा उनका मुख विभिन्न पशुओं जैसा क्यों है-

ऋग्वेदः श्वेतवर्णश्च द्विभुजो रासभाननः।
अक्षमालाम्बुपात्रं च बिभ्रन् स्वाध्ययने रतः॥
अजाऽऽस्य पीतवर्णश्च यजुर्वेदोऽक्षसूत्रवान्।
वामे चाङ्कुशपाणिस्तु भूतिदो मङ्गलावहः॥
नीलोत्पलदलाभासः सामवेदो हयाननः।
अक्षमालाधरः सव्ये वामे कम्बुधरः स वै॥
अथर्वणाभिधो वेदो धवलो मर्कटाननः।
अक्षसूत्रं च खट्वाङ्गं बिभ्रन् वै विजयप्रदः॥

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु देवता कामरूप होते हैं। कर्मेच् -छानुसार अपने स्वरूप को परिवर्तित करते हैं -

शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः।
(श्रीमद्भागवत एवं सात्वत संहिता(

शुक्लो रक्तस्तथा पीतो वर्णोऽस्यानुयुगं धृतः।
द्वापरान्ते कलेरादौ बालोऽयं कृष्णतां गतः॥
(गर्ग संहिता, गिरिराजखण्ड(

वेदनारायण के भी विभिन्न स्वरूप वर्णित हैं। चरणव्यूहकार कहते हैं -

अथातः ऋग्वेदः पीतवर्णः पद्मपत्राक्षः सुविभक्तग्रीवः कुञ्चित केशश्मश्रुः सुप्रतिष्ठितजानुसङ्घः॥ अथ यजुर्वेदः प्रांशुः प्रलम्बजठरः स्थूलगलकपालो रक्तो वर्णेन प्रादेशाः षड्दीर्घत्वेन यजुर्वेदस्यैतद्रूपं भवति॥ अथ सामवेदः सुवर्चाः सुगन्धिस्तेजस्वी

मृदुवक्ता ब्रह्मण्यः प्रलम्बबाहुर्दुश्चर्मी कृष्णो वर्णेन कातरः स्वरेणेति॥ अथातो ब्रह्मवेदः कपिलो वर्णेन तीक्ष्णः प्रचण्डः कामरूपी विश्वात्मा जितेन्द्रियः॥

(चरणव्यूह(

इसमें ऋग्वेद देवप्रधान, यजुर्वेद मनुष्यप्रधान एवं सामवेद पितृप्रधान है। जैसा महाराज (अथर्ववेद में तीनों का समाहरण है) - मनु कहते हैं

ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः।
सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः॥
(मनुस्मृति, चतुर्थ अध्याय(

इसमें सामवेद को अशुद्ध नहीं जानना चाहिए, अपितु उसकी ध्वनि पैत्र्यापवित्रदोष से ग्रस्त है, ऐसा समझना चाहिए, और मात्र उसके पाठ के समय शेष वेदमन्त्रों के अध्ययन का निषेध है, जैसा कि मन्वर्थमुक्तावलीकार ने स्पष्ट किया है -

ऋग्वेदो देव एव देवतास्येति देवदैवत्यः। यजुर्वेदो मानुषो मानुषदेवताकत्वात्। प्रायेण मानुषकर्मोपदेशाद्वा मानुषः। सामवेदः पितृदेवताकत्वात्पित्र्यः। पितृकर्म कृत्वा जलोपस्पर्शनं स्मरन्ति तस्मात्तस्याशुचिरिव ध्वनिः न त्वशुचिरेव। अतस्तस्मिञ्छ्रूयमाणे ऋग्यजुषी नाधीयीत॥

(मन्वर्थमुक्तावली(

वस्तुतः अनिरुद्ध संहिता के दूसरे अध्याय में "वेदानां सामवेदस्तु", कूर्मपुराण के उत्तरभाग में "वेदानां सामवेदोऽहम्", मत्स्यपुराण में आदि कहते हुए सामवेद को तो सभी वेदों में वरिष्ठ बताया गया है। "सामवेदस्तु वेदानाम्"

वेदों के ब्रह्ममुख से निःसरण के सन्दर्भ में निम्न वाक्य द्रष्टव्य हैं -

तस्मादण्डाद्विनिर्भिन्नाद्ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः।
ऋचो बभूवुः प्रथमं प्रथमाद्वदनान्मुने॥
जवापुष्पनिभाः सद्यस्तेजोरूपा ह्यसंवृताः।
पृथक्पृथग्विभिन्नाश्च रजोरूपा महात्मनः॥
यजूंषि दक्षिणाद्वक्त्रादनिबद्धानि कानिचित्।
यादृक्वर्णं तथा वर्णान्यसंहतिचराणि वै॥
पश्चिमं यद्विभोर्वक्त्रं ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
आविर्भूतानि सामानि ततः कुन्दसितान्यथा॥
अथर्वाणमशेषेण भृङ्गाञ्जनचयप्रभम्।
घोराघोरस्वरूपं तदाभिचारिकशान्तिमत्॥
उत्तरात्प्रकटीभूतं वदनात्तु वेधसः।
मुखं सत्वतमःप्रायं सौम्यासौम्यस्वरूपवत्॥
ऋचो रजोगुणाः सत्त्वं यजुषाञ्च गुणो मुने।
तमोगुणानि सामानि तमःसत्वमथर्वसु॥
(मार्कण्डेय पुराण, अध्याय (९९ -

उपर्युक्त प्रमाण से स्पष्ट है कि प्रथम सदृश ऋग्वेद (रक्ताभ) मुख से जवापुष्प के (पूर्व), दक्षिण से बालू के (धूम्रकपिलाभ) सदृश यजुर्वेद, पश्चिम से कुन्दपुष्प के सदृश सामवेद एवं उत्तर से भौंरे एवं क (श्वेताभ)ाजल के दृश अथर्ववेद स (कृष्णाभ)

निःसृत हुए। किन्तु इनकी ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठा तत्तद्मुखों की ओर न होकर क्रमशः ब्रह्माजी के दक्षिण, पश्चिम, उत्तर एवं आगे की ओर है। (पूर्व)

ऋग्वेदो दक्षिणेनास्य यजुर्वेदश्च पश्चिमे।
उत्तरे सामवेदस्तु अग्रतोथर्वणस्तथा॥
(स्कन्दपुराण, अम्बिकाखण्ड, अध्याय (५३ -

अर्थात् जो वेद जिस मुख से निकले, वह अपने से दाहिने हाथ की ओर वाली दिशा में प्रतिष्ठित हुए। इनके नामकरण कैसे हुए ?

ऋच्यन्ते स्तूयन्ते देवा अनयेति ऋक्। जिसके द्वारा देवताओं की स्तुति की जाये, उसे ऋग्वेद कहते हैं। इसका मुख रासभ के समान है। रासते शब्दायत इति रासभः। जो शब्द उत्पन्न करे, वह रासभ कहलाता है। स्तुति ध्वन्यात्मक विषय है। ध्वनि शब्द तन्मात्रा का गुण है। इसका क्या लक्षण है ? कथं लक्षणिका ऋचः? । शबरस्वामी 'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' सूत्र के भाष्य में अनुग्रह करते हैं दकृता व्यवस्था स मन्त्र ऋग्नामा। जहाँ अर्थपरक पादव्यवस्था दिखेयत्र पा -, उसका नाम ऋक् है। स्तुतिपाठ हेतु अर्थविन्यास आवश्यक है।

त इज्यन्तेऽनेनेति यजुष्। वे देवता जिस मन्त्र के द्वारा पूजित होते हैं, उसे यजुर्वेद कहते हैं। यह अज के समान मुख वाला है। यो न जायते नोत्पद्यते सोऽजः। जो जन्मोत्पत्ति से अतीत हो, वह अज है। वस्तुतः चार चरणों वाले एक ही वेद को चार भागों में वेदव्यास जी ने बांटा था।

वेदमेकं चतुष्पादं चतुर्धा व्यभजत्प्रभुः॥
(वायुपुराण, पूर्वार्द्ध, अध्याय (६० -

अब ऐसा करने वाले वेदव्यास कौन थे ? पराशर जी बताते हैं कि उनके पुत्र ने ऐसा किया। (कृष्णद्वैपायन)

ततोऽत्र मत्सुतो व्यासो ह्यष्टाविंशतिमेऽन्तरे।
वेदमेकं चतुष्पादं चतुर्धा व्यभजत्प्रभुः॥
(विष्णुपुराण, तृतीय अंश, अध्याय ०४ -, श्लोक (०२ -

जिस चार चरणों वाले एक ही वेद को चार अलग अलग भागों में बांटा गया, वह वेद मूलतः क्या है ? उत्तर मिला यजुर्वेद। -

एकश्चासीद्यजुर्वेदस्तं चतुर्धा व्यकल्पयत्।
(अग्निपुराण, अध्याय (१५० -

एकमेव यजुर्वेदं चतुर्धा व्यभजत्पुनः॥
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण, प्रथम खण्ड, अध्याय (७४ -

अतएव जब महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपने गुरु वैशम्पायन जी के द्वारा वेदबाह्य कर दिये जाने पर अदृष्ट वेदमन्त्रों के ज्ञान हेतु भगवान् सूर्य की निम्न श्लोक से स्तुति की -

नमः सवित्रे द्वाराय मुक्तेरमिततेजसे।
ऋग्यजुःसामरूपाय त्रयीधामात्मने नमः॥

तब भगवान् सूर्य ने उन्हें जो संहिता प्रदान की, उसका सम्बन्ध यजुर्वेद से ही था। अतः शेष वेदों को तो यजुषाश्रित कहा जा

सकता है किन्तु यजुर्वेद पूर्णतः अजसंज्ञक ही है। इसका क्या लक्षण है ? अथ यजुषः किं लक्षणमिति ? शबरस्वामी कहते हैं - यजुषो लक्षणं न वक्तव्यम्। यजुर्वेद का लक्षण अलग से नहीं बताया जाता अपितु सामवेद और ऋग्वेद के लक्षण न दिखें तो यजुर्वेद जानो। ऋग्लक्षणसामलक्षणाभ्यामेव यजुर्विज्ञास्यते वैपरीत्येनया न गीतिर्न च पादबद्धं, तत्प्रश्लिष्टपठितं यजुरिति। ऋग्वेद के समान अर्थविन्यासपरक पादव्यवस्था न दिखे तथा सामवेद के समान गीतिबन्धन न हो, अपितु श्लिष्टपरक हो तो यजुर्वेद हैं, ऐसा समझना चाहिए। सरस्वतीकण्ठाभरणकार स्पष्ट करते हैं कि एक ही वाक्य में एकरूपीय शब्दों का अनेकार्थत्व श्लिष्ट है श्लिष्टमिष्टमविस्पष्टमेकरूपान्वितं वचः। -

स्यति छिनत्ति दुःखं गेयत्वादिति सामन्। जो अपना गान किये जाने पर गायक के दुःखों का नाश करे, वह सामवेद है। हयति गच्छतीति क्लाम्यति वा हयः। जो तेजस्विता (कान्तौ), प्रसन्नता के प्रति गमन कराये वह हय है। उसका क्या लक्षण है ? अथ साम्नः किं लक्षणम् ? शबरस्वामी सामलक्षणाधिकार में उपदेश करते हैं सामान्यधीमहि -, सामान्यध्यापयामः, सामानि वर्तन्त इति। अभियुक्तोपदेशश्च न प्रमाणम्। यथाम्लं दधि, मधुरो गुड इति। गीतिविशिष्टे तावन्मन्त्रे गीतिशब्दः। गीतिसम्बन्धान्मन्त्रे सम्प्रत्यय इत्यवगन्तव्यम्। जिसका अर्थ सर्वथा स्पष्ट हो कि उसे प्रमाणित करने की आवश्यकता ही नहीं है, जैसे दही का खट्टापन या गुड की मिठास, बिल्कुल प्रत्यक्ष है, उसे अलग से प्रयत्नपूर्वक सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं, सामान्य बुद्धि से जो गम्य हो और उसमें गीतिकाशैली का सम्बन्ध भी हो जाये तो यह सामवेद का लक्षण हैं, ऐसा समझना चाहिए।

मर्कति गच्छतीति मर्कटः। जो सर्वत्र विचरण करता हो, वह मर्कट है। अथर्ववेद मर्कटमुखी है। उसमें आभिचारिक कृत्यों के उपद्रव को शमित करने की दक्षता है। किस उद्देश्य से ? लोक के कल्याण हेतु। लोकमङ्गलाय अब्र्यते प्रस्तूयते यदथर्वन्। परमेश्वरस्य वेदोऽथर्ववेदः। परमेश्वर का वेद अथर्ववेद है क्योंकि इसमें सब कुछ है। इसमें शेष तीनों के देवनरपितृप्राधान्य क्रिया, स्तुतिगीतोभयविलक्षणलक्षणपरक मन्त्र और प्रवृत्तिनिवृत्तिपरक संहिता, सब है। चरणव्यूहकार ने इसे ब्रह्मवेद कहा है। ब्रह्म को निष्क्रिय कहते हैं वराह पुरा) । नमस्ते निष्क्रिय निष्प्रपञ्च।(बृहद्विष्णुस्मृति) चैतन्याधार निष्क्रिय -ण(

किसके समान निष्क्रिय होना चाहिए ? निष्क्रिय का अर्थ क्रियाशीलता से हीन नहीं, अपितु क्रियासक्ति से रहित, मर्कट के समान। करता सब है, निरन्तर क्रियाशील है किन्तु क्रिया निरुद्देश्या है। रसगङ्गाधरकार कहते हैं मर्कट इव निष्क्रियो - नितराम्।

ध्वनि दृश्य या अदृश्य नहीं होती। दर्शन रूप तन्मात्रा का विषय है। ध्वनि शब्द तन्मात्रा का विषय है। शब्द आकाश का गुण है, रूप तेजस् का गुण है। आकाश में रूप तन्मात्रा होती ही नहीं अतः ध्वनि अदृश्य नहीं होती, वह अश्रुत होती है। अश्रव्य हो सकती है किन्तु शब्दहीन नहीं। अश्रुत से अर्थ है कि हमारी श्रवण क्षमता में वो न आ सकी। किसी विशिष्ट श्रवण क्षमता वाला भले सुन ले। वेद शब्दब्रह्म हैं। रूपकूटस्थ नहीं, ध्वनिकूटस्थ हैं, श्रुति हैं। अतएव अलग अलग वैदिक, स्मार्त, पौराणिक मतों में वेदों के अलग अलग दृग्गोचर स्वरूप वर्णित हैं, जिसने जैसा देखा, उसने वैसा लिखा। जाकी रही भावना जैसी ... आपने जो प्रश्न ने श्लोक लिखे हैं, वे भगवान् विश्वकर्मा के द्वारा कहे गये शिल्पशास्त्र के अंश हैं, जिनका सन्दर्भ चतुर्वर्गचिन्तामणि के व्रतखण्ड में एवं शिल्परत्नाकर के एकादशरत्न में मिलता है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु
Nigrahacharya Shri Bhagavatananda Guru